# रचना का इतिहास दर्शन

डॉ. राजेश्वर सक्सेना

# रचना का इतिहास-दर्शन

डॉ० राजेश्वर सक्सेना

साहित्यवाणी
२८-पुराना अल्लापुर इलाहाबाद-२११००६

प्रकाशक
**साहित्यवाणी**
२८, पुराना अल्लापुर,
इलाहाबाद-२११००६

संस्करण : प्रथम १९८२
मूल्य : पचीस रुपये



मुद्रक
शिव प्रिंटर्स,
१२५, आर्य नगर इलाहाबाद

भाई, डॉ० कमला प्रसाद को

# आमुख

जीवन के सारतत्व को मूल्यांकित करते समय ऐतिहासिक वस्तुवाद की द्वन्द्वात्मक प्रणाली इतनी विशद् और जटिल हो जाती है कि उसमें प्राकृतिक विज्ञानों, समाज-विज्ञानों और मानविकी के समस्त अनुशासनों की समन्वित और समाहित अन्तर्वस्तु के प्रगतिमान रूपों और गुणों का ठोस और सोद्देश्य प्रकाशन होने लगता है। सौन्दर्य तत्व-निरूपण का मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य कितना सर्वाङ्गीण और सामंजस्यपूर्ण है इसका प्रमाण तो प्रकृति, इतिहास और दर्शन के सक्रिय और संश्लिष्ट चेतन-रूपमानों के नव-नवोन्मेषित रचना-स्रोतों में मिल जाता है। यहाँ जीवन के सृजनात्मक नियमों की अवहेलना नहीं होती, उनकी उन्नत व्यवस्था के नैरन्तर्य्य का वास्तविक रूप प्रकट होता है।

अभी तक भाववादी दार्शनिक अमूर्तनों के द्वारा रूप-गुण-विहीन "प्रत्यय" को व्याख्यायित करने के लिए तमाम प्रकार की विचार-शैलियों और प्रणालियों को गढ़ा जाता रहा है। लघु और विराट के अमूर्त आकारों की परिकल्पना की जाती रही है। "भ्रान्तिमान" को सौष्ठव प्रदान किया जाता रहा है। भारत का "सांख्य" हो या "वेदान्त" तथा पश्चिम का काटन्टवाद हो या हीगलवाद, सभी में अज्ञेय और निरपेक्ष को अनंत और अखंड मानकर उसके शुद्धत्व को प्रतिपादित करने का मसीहाई बौद्धिक-श्रम किया गया है। ऐसा करने के कारण ही अग्रह्यात्मक, ऋणात्मक और निषेधात्मक दृष्टियों को प्रश्रय मिलता रहा है। भाववादी दार्शनिकों ने इसी निषेध मार्ग से सार्व-जनिकता के प्रतिमान बनाये हैं तथा आत्मवादी विश्व-दृष्टि की स्थापना की है। हमारे "वसुधैव कुटुम्बकम्" और "सर्वेभवन्तु सुखिनः" के प्रस्थानसूत्र आत्मवादी और भाववादी हैं, ऋणात्मक मार्ग की दार्शनिक जिज्ञासाओं को तथा उद्देश्यों को स्पष्ट करते हैं। इनमें व्यक्तिवादी उच्चाकांक्षा भरी है, इनमें इन्द्रियानुभविक औदात्य मिलता है। हमारे आदर्शवाद की "व्यावहारिक आलोचनात्मक कार्यशीलता" का पक्ष धूमिल है, वह यथार्थवादी नहीं है। वह प्रत्ययबोधात्मक और स्पैकुलेटिव है। इस तरह भाववादी चिंतन में निष्क्रिय शुद्धतत्व को ही देश और काल की भूमिका में प्रतिपादित किया जाता रहा है तथा उसी को आत्मरूप विश्व चैतन्य-बोध की संज्ञा दी जाती रही है। आत्मवादी विचारदर्शन में व्यक्ति की प्रकृत-इच्छाओं की तात्कालिक प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न अमूर्त भव्यता का संसार दिखाई देता है।

प्रश्न उठता है मनुष्य ने प्रकृति कीअ त्वसृजनयुक्त जलवायु के सृजनकर्म को निर्गुण

और रहस्यवादी रूप में समझने की कोशिश क्यों की ? पदार्थ की गुणचेतना का अमूर्तन क्यों किया ? और फिर पदार्थ सत्ता को नगण्य क्यों बना दिया ? इन प्रश्नों का उत्तर ऐतिहासिक वस्तुवाद में मिलेगा। मनुष्य ने अपनी चेतन आवश्यकताओं के विकासक्रम मे पदार्थ की गुण चेतना को मानवीय अर्थ में रूपान्तरित किया है। यह रूपान्तरण मनुष्य और प्रकृति के रचनात्मक संघर्ष के द्वारा सम्भव हो सका है। मनुष्य और प्रकृति के संघर्ष से ही समय या काल को भी भौतिक गुणों से विभूषित किया गया है, मानवीय गुणों से विभूषित किया गया है। इसी संघर्ष के माध्यम से अर्थात् प्रकृति के द्वन्द्वात्मक विश्लेषण से मनुष्य प्रकृति के चेतन रूपों से रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित करता रहा है, वह प्रकृति से संश्लिष्ट-सान्निध्य स्थापित करता रहा है।

भाववादी विचारक 'क्षण' की विशिष्टता को मानता है, उसकी स्वायतत्ता को मानता है। लेकिन इस क्षण में समय या काल के भौतिक और मानवीय-रूपों में रूपान्तरित करने वाले संघर्ष या श्रम को, द्वन्द्वात्मक विश्लेषण के निष्कर्षों को नकारा जाता है। यह क्षण अर्जित समय नहीं है जिसे दिक् की भौतिक-सापेक्षता मिल गई हो, यह क्षण उस अर्थ में रचनात्मक नहीं है जिसे मनुष्य ने अपने दीर्घकालीन ज्ञान और कर्म के संश्लिष्ट बोध के रूप में, ऐतिहासिक संस्कार के रूप में प्राप्त किया है। क्षण-बोध हमेशा ही निरपेक्षता और अमूर्तता में पलता है। क्षण, उपभोक्ता का बोध बन सकता है, सर्जनशील कल्पना में वह आकस्मिक चमत्कार को ही प्रकट करेगा। ऐसे क्षण का कारणत्व-बोध भी प्रत्ययजनित होता है। अतः काल या समय को भौतिक अस्तित्व देकर उसे ठोस रूप में अर्जित करने वाली दृष्टि अमूर्त भावकल्पों से मुक्त होती है, उसकी स्थानिक विशेषताएँ होती हैं। इसीलिए क्षण की सत्ता को महत्व देने वाले रागात्मक सम्बन्ध योग के भौतिक आधारों को, उसकी विविधता और अनेकरूपता को नकारते हैं। इतिहास को नकारते हैं। वे इतिहास-काल को मिथक-काल में बदल देते हैं।

मनुष्य की संस्कृति के विकास की दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया अटूट है, उसमें इतिहास-तत्व का विशेष स्थान है। यह इतिहास-तत्व मनुष्य के द्वारा अर्जित संस्कार का यथार्थ पक्ष होता है। वही समस्त प्रकार के कारकों का प्रस्थानक होता है। यह इतिहास-तत्व ही कारणत्व-बोध का नियामक और निर्धारक होता है, उसी से जीवनतत्व के सगुण-साकार सापेक्ष धर्म की स्थिति रहती है, उसी से मनुष्यता के मानक निश्चित होते हैं तथा उसी की प्रक्रिया में वे निरन्तर गतिमान भी रहते हैं और हमेशा उन्नत अवस्थाओं को ग्रहण करते हैं। इस इतिहास-तत्व में मनुष्य और प्रकृति के गतिमान सम्बन्धों का लेखा-जोखा होता है। क्योंकि इतिहास हमेशा मनुष्य के द्वारा अर्जित किये गये कार्य की सोद्देश्यता को स्पष्ट करता है, उसी में उसकी अगणित

सम्भावनाएँ रहती हैं। इतिहास में मनुष्य और प्रकृति के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों का योग-फल हमेशा साकार होता है और इसीलिए मनुष्य के संदर्भ में विश्व-प्रक्रिया निरुद्देश्य नहीं होती। कुल मिलाकर मनुष्य और प्रकृति के रचनात्मक संघर्ष से ही इतिहास-तत्व का उत्सर्जन और संवर्द्धन होता है और उसके संरक्षण में जो संस्कार बनता है, जो चेतना बनती है, जो आत्म-तत्व बनता है—जितनी समग्रता आती है, वह भौतिक ऊर्जा के गुणों से सम्पन्न होती है।

अतः मनुष्य और प्रकृति के आवश्यकतानुरूप सोद्देश्य और जागरूक सम्बन्ध ने जिस इतिहास-तत्व की रचना की वही उसकी मनस्विता के प्रकाशन में दिखाई देती है। और चूँकि इतिहास-तत्व अनिश्चयात्मक नहीं होता; इसलिए उसमें पाई जाने वाली "चेतना" भी प्रत्ययमूलक नहीं हो सकती। इसीलिए मनुष्य की चेतना की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ स्पष्ट, ज्ञात और निश्चय बोधात्मक होती हैं। यह चेतना या आत्म-संश्लिष्ट-बोधव्यता अपने युग और समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट करती है। इसमें मनुष्य अपनी समस्त चेष्टाओं और क्रियाओं सहित प्रकृति का अंग होता है और वह अपने कर्म से प्रकृति के चेतनरूपों को मानवीय अर्थ में बदलता है। वह प्रकृति के नियमों के अनुकूल रहकर प्रकृति में निहित शक्ति को अधिकाधिक रूपों में धारण करता है और उसकी खोज में लगा रहता है। इस तरह मनुष्य अपनी खोज से प्रकृति को भी समृद्ध व्यक्तित्व देता है। ऐसा होता है, मनुष्य और प्रकृति का क्रियाशील-आनुसंगिक योग।

तब फिर जीवनदृष्टि और सांस्कृतिक-मानकों का, मूलभूत विचारधारा का अमूर्तन और निरपेक्षीकरण कैसे हुआ? इसका उत्तर इतिहास में मानव-श्रम के विभक्त होकर वर्गबद्ध हो जाने के लम्बे दौर में मिलेगा। समय और स्थान को अपनी भौतिक आकांक्षाओं में बदलने के ऐतिहासिक क्रम में मनुष्य ने उत्पादन की एक निश्चित अवस्था मे जिस तरह के सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित किया, उसमें ऊँच-नीच के भेद थे। यहीं से "वर्ग-वैशिष्ट्य", "व्यक्ति-वैचित्र्य" और "असम्बद्ध-व्यक्ति" का इतिहास बनने लगता है। सामाजिक-सहकार से मुक्त वर्ग और व्यक्ति के प्राथमिक होने की परिस्थिति पैदा होती है। यहीं से "अतिरिक्त मूल्य" में बढ़त होने लगती है जो संस्कृति में अतिरिक्त प्रभुत्व और ऐश्वर्य के रूप में दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में अतिरिक्त वैभव वाले वर्ग और व्यक्ति की भोगवादी प्रकृत-इच्छाओं को गौरवान्वित किया जाने लगता है। फलस्वरूप, समाज में "अतिरिक्त वैशिष्ट्य" की भोगवादी आवश्यकतायें निरंकुश और अराजक होने लगती हैं। अंधी आवश्यकताओं को प्राथमिकता मिलने लगती है, आवश्यकताओं के निर्धारण की क्रियाशील चेतना लुप्त होने लगती है। अतः आवश्यकताओं के अमूर्तन से जो विचार पैदा हुआ उसकी अभिव्यक्ति एक ओर तो

प्रकृति-इच्छा के भोग में हुई, दूसरी ओर उसकी प्रतिक्रिया प्रत्ययमूलक मनोजगत मे दिखाई पड़ती है। अतः इन्द्रियानुभविक सुखभोग की प्रधानता होने लगती है। यहीं से दर्शन में, धर्म में, नीतिशास्त्र में, कला और साहित्य में अनुभववादी विचार की अटूट परम्परा दिखाई पड़ती है।

सामाजिक सम्बन्धों के निर्धारण में क्रियमान् सामाजिक इच्छा और क्रिया-विहीन प्रकृत-इच्छा को, उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को समझना चाहिये तथा उन परि-स्थितियों का विश्लेषण किया जाना चाहिये जिनमें व्यक्ति की प्रकृत-इच्छा का आधि-पत्य होता गया है और उसी के आधिपत्य में सामाजिक श्रम और सहकार को हीन बना दिया गया है। इसी के तहत इतिहासतत्व का नस्लवादी चरित्र उभरता है वह वर्ण-प्रधान होने लगता है, उसका विशेषीकरण होने लगता है। इतिहास के अमूर्तन और निरपेक्षीकरण में प्रकृत-इच्छा और नस्लवाद के आभिजात्य को देखा जा सकता है तथा सामामिक चेतना के अमूर्तीकरण और निरपेक्षीकरण में नस्लवादी प्रकृत-इच्छा की आत्मपरक प्रतिक्रिया का परिणाम दिखाई देता है। प्रकृत-इच्छा से उत्प्रेरित हुई भोगवादी आनन्द-दृष्टि तथा उसकी वैयक्तिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ भाववादी-रहस्यवादी दर्शन। अतः मनुष्य के प्राकृतिक सम्बन्धों तथा सामाजिक सम्बन्धों के भेद को वैज्ञानिक ढंग से पकड़ना जरूरी है।

प्रकृत-इच्छा के आभिजात्य में शृङ्गार को रसराज कहा गया है तथा प्राकृतिक सम्बन्ध-निरूपण में ही शान्तरस को भी विशेष स्थान मिलता है, इस तरह विशिष्ट मनुष्य के प्राकृतिक सम्बन्धों के प्राथमिक हो जाने से इतिहास और समाज की वस्तु-वादी मान्यतायें गौण होने लगीं। सामाजिक सम्बन्धों की रचना अर्थहीन होने लगी, फलस्वरूप समाज के नैतिक-धार्मिक आधार मिथकीय तथा पौराणिक होने लगे। कानून और न्याय का सम्बन्ध भी सामाजिक सम्बन्धों को विकसित करने वाले उत्पादक वर्ग से न होकर अतिरिक्त मूल्यों का प्राकृतिक सम्बन्धों के द्वारा भोग करने वालों से हो गया। इस तरह कानून और न्याय भी कालान्तर में इतिहास निरपेक्ष हो गये, मिथकीय विशेषताओं से युक्त हो गये।

मनुष्यता के सृजन-स्रोतों की पहचान को अमूर्त बनाकर वर्गविशिष्ट व्यक्ति और जाति के इतिहास में जो अपकर्म किया है उसके कारण सामाजिक सम्बन्धों के विकास क्रम में संतुलन नहीं आ सका है। अन्तर्विरोधों और प्रतिरूपों की दुनिया मे अराजकतापूर्ण संकट और विसंगतियाँ पैदा होती रही हैं। आज के उद्योग, विज्ञान और टकनालाजी के युग में सामाजिक उत्पादन और वितरण के वैषम्य से संकट गहराता जा रहा है। आज का मनुष्य भौतिक संसाधनों की दृष्टि से अधिक भरा-पूरा और

मजबूत है। भौतिक सम्पन्नता से उसके व्यक्तित्व की आत्मपरक कुंठायें समाप्त हुई हैं, उसका व्यक्तित्व अधिक वस्तुपरक हुआ है। आज मनुष्य अकेला नहीं है। अस्मिता की खोज में, अस्तित्व की रक्षा में तथा नियति के नियमन में उसकी रचनात्मक शक्तियों मे सहकार दिखाई देता है। विज्ञान और भौतिकवाद के युग में सामाजिक सम्बन्धों की रचनात्मक वस्तुनिष्ठता पर केन्द्रित होनाँ पड़ेगा, भेदों को मिटाना होगा। भौतिक उत्पादन में निरन्तर वृद्धि के कारण मनुष्य के विचार भी ठोस हुए हैं, उनमें भौतिक शक्ति समा गयी है। अतः प्राकृतिक सम्बन्धों का भाववादी-वर्गवादी-मिथकीय सुखभोग वाला संसार अब बेमानी हो गया है। नस्लवादी निरंकुश मान्यताओं का युग बीत चुका है। अतः विज्ञान और विवेक के युग में सामाजिक सम्बन्धों के वस्तुनिष्ठ आधारो को पुष्ट करने वाले निश्चयात्मक विचार प्राथमिक हो गये हैं। इतिहास और विचार-धारा का मानवीय परिप्रेक्ष्य निर्मित हुआ है।

जिस तरह मध्ययुग में धर्म के आश्रय में मनुष्य के जीवन को परिपूर्णता मिली थी, उसी तरह आज के युग में राजनीति के आश्रय में ही मनुष्य के जीवन को परि-पूर्णता मिल सकती है। राजनीति तो विज्ञान और विवेक के युग में सामाजिक-सम्बन्धो को जागरूक और प्रगतिमान बनाने की प्राथमिक और अनिवार्य शर्त हो गयी है, अरा-जनीतिबोध तो भोलेपन-पिछड़ेपन का द्योतक है। आवश्यकता, स्वतंत्रता और न्याय के सजग आधारों को मजबूत करने के लिये राजनीति के मानवीय परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिक बनाना होगा। अतः उद्योग, विज्ञान और तकनालाजी को प्राथमिकता देने वाले समाज में जीवन का राजनीतीकरण आवश्यक हैं। क्योंकि राजनीति-बोध से सामाजिक सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं, राजनीति-बोध मनुष्य के प्राकृतिक-सम्बन्धों को नकारता है, राजनीति-बोध में 'माईथालाजिकल' विद्रूपों का कोई स्थान नहीं होता। अतः सभ्यता, संस्कृति मे और मनुष्यता में पाई जाने वाली यांत्रिकता को समाप्त करने के लिये सामाजिक सम्बन्धो के राजनीतीकरण पर ध्यान देना होगा। यह सब कुछ समाजवादी समाज-संरचना मे ही संभव हो सकता है। बीसवीं शताब्दी में समाजवाद मनुष्य के जीवन की वास्त-विकता बन चुका है, वह भौतिक शक्ति बन चुका है अतः समूचे समाज की रचनात्मक शक्तियों को संजोने के लिये समाजवाद तक पहुँचना जरूरी हो गया है। समाजवाद इतिहास की अग्रिम अवस्था है, भविष्य के जीवन की संभावनायें उसी में निहित हैं। समाजवादी व्यवस्था में ही मनुष्य, समाज की आवयविक चेतना की गति से बाँध सकेगा।

समाजवादी विचारधारा के बहुमुखी विकास के लिये सबसे पहले विज्ञान और ज्ञानमीमांसा के रिश्तों को जोड़ना होगा। व्यक्तिवादी विचारों वाले धर्म-विभक्त समाज

मे विज्ञान और तकनालाजी समूचे समाज से समरस नहीं होता। विज्ञान को ज्ञान्-मीमांसा तक ले जाकर ही उसकी मानवद्रोही ताकत पर नैतिक विजय पायी जा सकती है। क्योंकि इस स्थिति में मनुष्य लघु नहीं रह जायगा। मशीन के उत्पादन से मनुष्यता के गुणात्मक सम्बन्धों का दार्शनिक और नैतिक आधार बन जाएगा। विज्ञान और दर्शन की विसंगति से ही मानवीय त्रासदी का कारण बना हुआ है, समूचे मानव जगत मे आध्यात्मिक संकट गहराया है। पूंजीवादी अर्थशास्त्र और विज्ञान से निर्मित जीवन मे मानवद्रोह उस सीमा तक पहुँच गया है कि उसकी सृजनशील नैतिकशक्ति पूर्णतया चुक गयी है।

पूंजीवादी व्यवस्था की प्रयोगधर्मिता अब समाप्त हो चुकी है। उसकी उदार-वादी प्रजातंत्री-चेतना के नकाब उतर चुके हैं, उसमें "उत्तर-औद्योगिक-युग" के आटोमेशन से मनुष्य ही गैरजरूरी हो गया है। वहाँ सामाजिक-संरचना की तकनाला-जिकल सैद्धान्तिकी में तरह-तरह के मुहावरों का चलन बढ़ गया है। पूंजीवादी व्यवस्था के संरक्षक कभी "पूंजी के सामाजीकरण" की चर्चा करते हैं तो कभी "कारपोरेट सोल" या कान्शन्स की बात करते हैं। वहाँ "टेक्नोक्रेटिक इलीट वर्ग" का प्रभुत्व बढ गया है, जो सभी प्रकार की सामाजिक विचारधाराओं के प्रति तटस्थ और उदासीन है। इस तरह पूंजीवादी समाजों के आन्तरिक सम्बन्धों में यांत्रिकता आयी है, वह टूट रहा है, क्रूर हो रहा है, अपनी रक्षा में अक्षम होने के कारण उन्मादी हो रहा है।

पूंजीवादी दुनिया के शैक्षणिक जगत में, वहाँ के सामाजिक विज्ञानों में सैद्धान्तिकी के प्रवर्ग (Categories of theory) बन चुके हैं जो विचारधारात्मक अनुशासन के विरुद्ध आचरण वाले हैं, जीवन के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को नकारने वाले हैं। वहाँ अब राजनीति को विज्ञान की अपेक्षा सिद्धान्त माना जाने लगा है और सैद्धान्तिकी के मार्ग से शुद्धता की खोज की जाने लगी है। आचरण में असंलग्नता और निरपेक्षता को विशेष महत्व दिया जाने लगा है। यह थ्योरी वहाँ के आत्मनिष्ठ चरित्र का कोड बन गयी है। इस थ्योरी को मार्क्सवादी विचारधारा के विरुद्ध पेश किया गया है जो इतिहास-तत्व से मुक्त होती है। इससे अन्तर्मुखी व्यष्टीयन सुलभ होता है, यह व्यक्ति-वाद की नवीनतम खोज है। पूंजीवादी पश्चिम के रचना संसार में इस सैद्धान्तिकी-प्रवर्ग ने कलावाद को नये तामझाम के साथ प्रतिपादित किया है। रूप-संरचनावाद को प्रश्रय दिया है। कोरी काव्यभाषा और शैली विज्ञान को प्रमुखता मिली है। इसने सामाजिक संवेदन के महत्व को क्षीण कर दिया है, उसे पैसिव बना दिया है। पूंजी-वादी व्यवस्था में रचना या तो पैथालाजी का विषय हो गयी है या फिर रूप संरचना की बारीकियों तक सीमित रह गयी हैं।

देखना और समझना यह चाहिये कि शब्द अपने अर्थ के महत्व की धारणा क्यों नहीं कर पाते ? शब्दों ने अपना परिचय क्यों खो दिया है ? शब्दों से जीवन की पकड़ कब छूटने लगती है ? वे एक तकनालाजी बनकर शेष क्यों रह जाते हैं ? शब्दों का जीवन के संदर्भों से जो नाता-रिश्ता होता है वह रचनात्मक क्यों नहीं रह गया है ? पश्चिम की काव्यकला-मीमांसा में जीवन-संदर्भों के क्रियमान रूपों की उपेक्षा क्यों की जाती है ? रचना में जीवन की अवहेलना करने वाली दृष्टि के सैद्धान्तिक मानकों को समझना होगा, जिसे पश्चिम में नव्य-आधुनिकतावाद, नव्य-आभिजात्यवाद कहा जाता है और जो रचना में विचारधारात्मक प्रतिबद्धताओं के विरुद्ध दिखाई देता है। इन तमाम प्रश्नों का सही उत्तर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र में मिलता है।

मार्क्सवादी कला और संस्कृति के आलोचन में समाज के अर्थोत्पादन की प्रक्रिया का इतना सीधा दबाव नहीं होता है कि जीवन के अप्रत्यक्षों और अमूर्तनों की स्थितियाँ एकदम यांत्रिक रीति से अवरुद्ध हो जायें। कला और संस्कृति में रूपान्तरण की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल, सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष होती है। मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मक पद्धति के द्वारा ही रूपान्तरण की अमूर्त व्यवस्थाओं को उसके मूलभूत कारणों सहित समझा जा सकता है। सभी प्रकार के अमूर्तनों और अप्रत्यक्षों को परावर्तन के सिद्धान्त से विश्लेषित किया जा सकता है। बिम्ब और फ़ैंटेसी रचना से लेकर आद्य-रूपों, मिथकों और प्रतीकों का, लक्षणा और व्यंजना का विश्लेषण बाह्य-पदार्थ और इन्द्रिय-संवेदना के रैफ़्लैक्सेस में तथा प्रत्यक्षीकरण-बोध में किया जा सकता है। लेकिन उसके लिये एक अनिवार्य शर्त है कि उक्त तमाम प्रक्रियाओं को ऐतिहासिक-वस्तुवाद से सम्बद्ध होना चाहिये। चाहे मिथक हो, चाहे प्रतीक, चाहे लाक्षणिक चमत्कार हो चाहे व्यंग्य-व्यंजना व्यापार सभी किसी न किसी विशिष्ट अर्थसंदर्भ की विशेष अवस्था को; उसकी दिशा-भिमुखता को तथा उसके मुख्य प्रेरकों, प्रेरणाओं और हेतुओं को स्पष्ट करते हैं। रूपकों और उपमाओं में भी अर्थ की निश्चित रूपाकृति बनती है। इस तरह अर्थतत्व के अथवा सम्प्रेष्य-वस्तु के नियामकों और निर्धारकों को परखना चाहिये जिनका सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध अपने युग और समाज से होता है। इसीलिये प्रासंगिक कला की शिल्प-संरचना के रेशे-रेशे में युग और समाज की प्राथमिकतायें गुंथी रहती हैं। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र वैज्ञानिक इसी अर्थ में है कि सम्प्रेष्य वस्तु और अर्थतत्व के प्रतिपादन, विश्लेषण और मूल्यांकन में यथार्थवाद की सृजनात्मक संभावनायें बनी रहती हैं, फलस्वरूप, निष्पत्तियां इन्द्रियानुभविक और अनुभववादी नहीं होतीं। उसमे अपने युग तक की क्रियमान जीवन चेतना की समग्रता का परावर्तन होता है। अत मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र में वस्तुनिष्ठता से आशय रूपवादी निर्वैयक्तिकता से नही होता यह तो एक क्रनात्मक या पारिन्द्रिय भौतिक चेतनता के रूप मे होती है

"रचना का इतिहास-दर्शन" भी मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का ही एक संदर्भ है। इस पुस्तक में तीन बड़े निबंध हैं। रचना के इतिहास-दर्शन निबंध में रचना और इतिहास के सृजनात्मक सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। इसमें सैद्धान्तिक प्रश्न उठाये गये हैं। रचना प्रासंगिक और प्रेरक कब होती है ? वह सार्थक कैसे बनती है ? उसकी विश्वदृष्टि के पौजिटिव पहलू कैसे होते हैं ? इसकी पड़ताल की गयी है। प्राचीन क्लासिक्स, स्वच्छन्दतावादी तथा आधुनिक युग की रचना दृष्टि के सन्दर्भ में रचनाकार और उसकी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। दूसरे निबंध में खड़ी बोली हिन्दी रचना में लोकतंत्री भावधारा के निर्माण और विकास की राजनीत्यार्थिकी की भूमिका को दर्शाया गया है। भारतेन्दु युग से आज तक की रचनादृष्टि का यह मूल्यपरक विश्लेषण विवाद का विषय बन सकता है, लेकिन इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्पष्ट है। इतिहास, राजनीति और समाज के माध्यम से आधुनिक रचना की प्रवृत्तियों के सांस्कृतिक महत्व का उद्घाटन हुआ है। प्रत्येक प्रवृत्ति के जीवनदर्शन को, उसकी विचारधारा को युग और समाज की मुख्य चिंता के प्रसंग में देखा-परखा गया है। तीसरा निबंध आधुनिकता-बोध बनाम संस्कृति-बोध का है। यह निबंध भी महत्वपूर्ण है, इसमें उद्योग, विज्ञान और तकनालाजी के युग की बुनियादी समस्याओं को उठाया गया है तथा इसमें मनुष्य के स्वस्थ भविष्य की धारणा को लक्ष्य में रखा गया है।

मैं डॉ० कमला प्रसाद का आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे ठीक समय पर सही जगह पहुँचा दिया। कमला प्रसाद जी प्रतिबद्ध रचनाकार और समीक्षक हैं, उनमें संगठन की अद्भुत क्षमता है। इस पुस्तक की अनेक समस्याओं पर उनसे बातचीत होती रही है। उन्होंने मुझे निरन्तर सक्रिय बने रहने की योजनाओं से बाँध दिया है। वे मुझे एक लेखक-कार्यकर्त्ता के रूप में भी देखना चाहते हैं, मैं उन्हें निराश नहीं करूँगा।

गोवर्धन ब्लाक, तिलक नगर
बिलासपुर (म० प्र०)

राजेश्वर सक्सेना
२२ जनवरी, १९८२

## अनुक्रम

# रचना का इतिहास-दर्शन

जो साहित्यकार या कलाकार अपनी रचना-संवेदन को ज्ञान-विज्ञान के अन्य विषयों से सम्बद्ध नहीं करता तथा परिस्थिति सापेक्ष जीवन के बदलते हुये और विकासमान वस्तु सत्य से समृद्ध नहीं करता तथा उसे अभिव्यक्ति के माध्यम में ठोस आकार देने की क्षमता नहीं रखता वह कुल मिलाकर व्यक्तित्व के धरातल पर चुका हुआ होता है। ऐसी हालत में उसकी रचना न तो प्रेरक हो सकेगी और न प्राणवान ही हो सकेगी, वह प्रासंगिक भी नहीं हो सकेगी।

सामाजिक जीवन के अधिकतम रचना-स्रोतों को पकड़ने और आत्मसात करने के बाद ही रचना-संवेदन में विशदता आ सकेगी और तभी एक अर्थपूर्ण आकृति उभर सकेगी। सार्थक रचना की परिक्षेत्र जटिल और व्यापक होता है। प्रथम श्रेणी की प्रतिभा वाले रचनाकार के संवेदन-सूत्र विकासमान होते हैं। यह संवेदन-विकास इतिहास में मनुष्य के सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले नियमों से परिचालित होता है, उसमें अन्तर्निहित सम्बद्धता होती है। इसीलिये रचना-संवेदन गतिशील और उन्नतिशील होता है।

## रचना-प्रक्रिया का द्वन्द्ववाद

रचना में मानव-जीवन के सारतत्व का नैरन्तर्य्य तभी तक बना रहता है जब-तक रचना प्रक्रिया के क्षणों में समूचे समाज की सृजनशीलचेतना अनेक मुखी धाराओं मे प्रवहमान रहती है अर्थात् उसमें अपने युगतक की सामाजिक प्रगति के ऐतिहासिक विकास का विवेक रहता है। उसी विवेक से रचनाकार वर्तमान के अन्तर्विरोधों की पहचान करता है और एक समाधान मूलक रूपायन करता है। इस प्रकार रचना का अपना अर्जित व्यक्तित्व होता है। वह वस्तु के धरातल पर युग-यथार्थ की चेतन-क्रियाशीलता से तथा शिल्प के धरातल पर नव नवोन्मेषित भावकल्पों के प्रभावपूर्ण अधिग्रहण की छबियों से सम्पन्न होती है।

रचना-प्रक्रिया व्यक्तित्व का द्वन्द्ववाद है, वह सृजन का द्वन्द्ववाद है। उसमे स्थापना, प्रतिस्थापना और संस्थापना का युगयुगीन चेतन प्रवाह रहता है। रचना प्रक्रिया के समूचे द्वन्द्ववाद में इतिहास-बोध होता है, तभी तो रचनावस्तु सुसम्बद्ध, अधिक पूर्ण और अविभाज्य हो पाती है। लेकिन इस तथ्य को समझना जरूरी है कि रचना प्रक्रिया के द्वन्द्ववाद में स्थापना या बीज ही यदि प्रकृतवादी है, वैयक्तिक मनोभावनाओं का है, निश्च्छल और स्थूल यथार्थ का है तो संवेदन-व्यापार भी स्वतः-स्फूर्त आवेग-प्रधान होगा। उसकी समूची बौद्धिकता मनोगत होगी। चंचल, अमूर्त और अनिश्चयात्मक होगी। यदि स्थापना के आधार वस्तुनिष्ठ हैं, दृश्यमान जगत के

अन्वेषण, विश्लेषण के विवेकपूर्ण ऊहापोह से युक्त हैं, परिस्थिति और परिवेश से नियंत्रित है तथा उसकी गतिमानता को प्रकट करते हैं तो रचना प्रक्रिया ठोस मर्यादित और निश्चय-बोधात्मक होगी। वह समग्रतया ग्राह्य होगी उसमें जीवन की गुणात्मक सघनता होगी। रचना की प्राथमिक जानकारी उसके स्थापना बिन्दुओं से ही हो जाती है, वह किस रूप में ढलेगी, कितनी दूरी तक बढ़ेगी और कहाँ रुकेगी ?—यह पूरी यात्रा स्थापना-स्रोतों की ताकत पर होती है। जीवन को अधिकाधिक रूपों में पूरी-ताकत के साथ पकड़ने वाले स्थापना स्रोत व्यक्तिमुखी और अन्तर्मुखी नहीं होते। ऐसी रचना के प्रेरक या प्रेरणा-स्रोत प्रतिस्थापनाओं के द्वन्द्ववाद से लगातार गतिशील बने रहते हैं और मानवजीवन की तरह रचना भी लगातार आगे बढ़ती रहती है, अग्रिम दशाओं को प्रकट करती रहती है। लेकिन रचना का ऐसा चरित्र हरहालत में इतिहास बोध और यथार्थवाद के अन्तर्नियोजित विवेक से बनता है।

रचना प्रक्रिया के तीन क्षणों की अवधारणा में मुक्तिबोध इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं। मुक्तिबोध भी रचना के अर्थ संश्लेषण में, उसकी जैविक-चेतना सम्पन्न पूर्णता में इतिहास-विवेक और यथार्थवाद को आवश्यक मानते हैं। वे मानते हैं कि संवेदना से ज्ञानात्मक पहलुओं का निर्माण इतिहास बोध और यथार्थवाद से ही होता है। रचना-संवेदन में प्रामाणिक कोटि की विश्वसनीयता के आधार जीवन सापेक्ष होते हैं, कोरे तर्कवादी या बुद्धिवादी नहीं होते। मुक्तिबोध ने रचनाशास्त्र की तमाम "अनुभववादी" और "प्रत्यक्ष प्रमाणवादी" मान्यताओं को निरस्त किया है। वे मानते हैं कि रचना में मानव-चेतना का रूपायन जैविक संघटना के ऐतिहासिक नियमों के अनुरूप होता है।

रचना के जैविक-विधान को शरीर-विज्ञान के प्राणिशास्त्रीय नियमों से नहीं परखा जा सकता, क्योंकि रचना-चेतना प्रकृतभावों और मनोगत-तरंगों का पर्याय नहीं होती। रचना-चेतना अपने युग तक के भौतिक विकास में मानवीय सारतत्व की सभावनापूर्ण अभिव्यक्ति होती है। यहाँ डार्विन और फ्रायड के जैविक तथा मनो-विश्लेषणात्मक संज्ञानों का कोई महत्व नहीं होता। शब्द-संरचना से लेकर अर्थ की उत्कर्ष विधायक बहुभंगी प्रसरणशीलता तक 'चेतना' के भौतिक परिवेशगत उत्थान पतन का निश्चित योगदान होता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्धों में भी इतिहास तत्व ही अनिवार्य रूप से निर्णायक होता है। इतिहास में ही शब्दों के जीवन की लचक और कठोरता का मार्ग बनता है, शब्द नये अर्थ को पैदा करके अपने प्रचलित अर्थ से विरत भी हो जाते हैं, अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर बनी रहती है और अर्थ की लयात्मक निःसृति में मानवीय सम्बन्ध व्यंजित होते हैं। इस तरह शब्द के, अर्थ के विकास में ऐतिहासिक भौतिकवाद के नियम क्रियाशील रहते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अप-भ्रंश और फिर अगणित देशज और आँचलिक बोलियों-भाषाओं के सम्मिलन से जिस

मध्ययुगीन साहित्य की रचना हुई, उसमें युगयुगीन इतिहास की सांस्कृतिक विरासत का मूल्य समाया हुआ है जो अपने तत्कालीन परिदृश्यों और सन्दर्भों में लोकरुचि और और लोकादर्श से आपूरित है। अतः इतिहास में ही चेतनागत प्रारूपों में परिवर्तन होता है, रूप बदलते हैं, शैलियाँ बदलती हैं, अर्थ की नई-नई कोंपलें फूटती हैं। मनुष्य के ऐतिहासिक सामाजिक सम्बन्धों की द्वंद्वात्मकता से ही शब्द और अर्थ को संस्कार मिलता है, उनकी संस्कृति बनती है।

रचनाकार अपने द्वारा अर्जित किये गये अथवा आत्मसात किये गये मानवीय सम्बधो को विश्लेषित करता है (इन सम्बन्धों के बाहर मनुष्य या तो देवता है (आदर्शवाद) या पशु (प्रकृतिवाद) होता है। इसी से उसमें संवेदन सक्रियता रहती है। वह पूर्वाग्रहो और पूर्वनिर्धारणाओं से मुक्त रहता है। उसमें ताजगी होती है। इसी अर्थ में रचनाकार का दायित्व सांस्कृतिक होता है। यहीं पर रचनाकार मूल्यचेतना का केवल व्यवस्थापक ही नहीं होता, वह न्यायिक शक्तियों से भी सम्पन्न होता है। रचना के मूल्यों में सामाजिक न्याय की पीठिका मजबूत होती है और इसी अर्थ में "सामाजिक-स्वतंत्रता" का, "मानवीय स्वतंत्रता" का महत्व होता है। रचनाकार का समूचा "संघर्ष" और "रचना की क्रान्तिकारिता" को इसी अर्थ में समझना चाहिये। क्या पक्षधरता और प्रतिबद्धता के बगैर रचना का सम्बोधन प्रभावकारी हो सकता है? क्या पक्षधरता और प्रतिबद्धता के उलझाव में रचना की सार्थकता बनी रह सकती है? क्या दोनों से रहित रचना अनिवार्य हो सकती है? सांस्कृतिक चेष्टा और अभिप्राय की चेतना को व्यक्त कर सकती है? प्रभाव और चमत्कार में भेद होता है। काव्यशास्त्र में चमत्कृत होने और प्रभावित होने के भेद को उतना स्पष्ट नहीं किया है क्योंकि प्रभाव की प्रक्रिया हमेशा मानवीय, सामाजिक और मूल्यपरक होती है। प्रभाव तटस्थता-बोधक नहीं होगा अन्यथा वह चमत्कार या अनुरंजन की वस्तु बनकर रह जाएगा और रचना रूपवाद का, सौष्ठववाद का विषय बन जाएगी। प्रभावों की सृष्टि करने वाली रचना हमेशा संस्कृति के द्वन्द्वों से पूर्ण होती है, उसे गम्भीर होकर नहीं पकड़ा जा सकता।

प्रभावों की सृष्टि का अर्थ ही संवेदन-सक्रियता और चेतनागत बदलाव से होता है, केवल अभिभूत होने या चमत्कृत होने से नहीं होता। प्रभाव की सृष्टि और चेतनागत विलगाव या तादस्थ्य में अन्तर्विरोध स्पष्ट है। प्रथम ग्राह्यात्मक है तथा दूसरा निषेधात्मक। स्वच्छन्दतावादियों ने इस भेद को अमूर्त किया है। ध्यान इस तथ्य पर होना चाहिये कि प्रभावों के ग्रहण करने वाले विधान में जीवन का जो प्रक्षेपण और रूपान्तरण होता है उसमें जीवन नई-नई आकृतियों में समृद्ध होता है, जीवन भरता है। जबकि विलीनीकरण, उदात्तीकरण की निषेध-प्रक्रिया में प्रक्षेपण और रूपान्तरण की प्रवृत्ति जीवन के प्रति तटस्थ होने, उससे मुक्त होने तथा 'वास्तव' को दबाकर अमूर्त आदर्शवादी ढङ्ग से अतिरंजित करने की होती है। प्रभावों को ग्रहण करने वाली रचना के स्रोत विभक्त नहीं होते श्रेणीबद्ध नहीं होते वे विशिष्ट और नहीं होते वे

पवित्र, शुद्ध और अशुद्ध नहीं होते, हीन और उच्च नहीं होते, बल्कि समग्रजीवन की स्रोतस्विनियों से प्रवाहित चेतना-विस्तार का प्रतिफल होते हैं। ऐसा प्रभाव कुल मिलाकर सामाजिक सम्बन्धों के स्थान और स्थिति-सापेक्ष उतार-चढ़ावों को स्पष्ट करने वाला होता है। उसका अपना ऐतिहासिक विकासक्रम होता है। इसीलिये वर्ग-विभक्त समाज में प्रभावों की सृष्टि का मानववाद और उसकी विश्वदृष्टि अनेक प्रकार के अमूर्तनों और अनेक प्रकार के प्रतीकों में सार्वजनिक जीवन के ठोस और वास्तविक सारतत्व को प्रतिपादित नहीं करती। उसके प्रतिवर्तों में सदृश्यता का विधान तो होता है लेकिन अन्योन्याश्रित होने, परावृत्तिक होने का आधार नहीं होता। इसीलिये वर्ग-विभक्त समाज में प्रभावों की सृष्टि के समस्त प्रारूप इतिहास-तत्व को और यथार्थवाद को अस्वीकार करते हैं और मनुष्य को "इतिहास काल" से मुक्त करके "मिथक काल" में ले जाते हैं। अमूर्तीकरण की इस प्रक्रिया में मानववाद ऋणात्मक हो जाता है। वर्ग-विभक्त समाज की रचना के प्रभाव का विश्लेषण इसी दृष्टि से होना चाहिये।

सही रचना में मानव-चेतना के नोट्स नहीं होते, रचना सूचनापट नहीं है। रचनाकार जीवन का गणित नहीं लगाता उसका ज्योमितीय नक्शा नहीं बनाता। रचना जिन्दगी का बहीखाता नहीं होती। रचना में मनुष्य अकेला नहीं होता और फिर अकेले मनुष्य की कोई मनुष्यता भी नहीं होती है। रचना में युग, समाज और मनुष्य तथा मनुष्यता के सृजनशील रूपों का स्पष्टीकरण का खुलासा होता है—इस स्तर पर मनुष्य अपने विशिष्ट भौतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक परिवेश की अन्तर्ग्रथित विकसित चेतना के रूप में उपस्थित होता है, रचनायें वह सामाजिक मनुष्य होता है, सामूहिक सृजन या कर्म का कर्ता होता है, वह सांस्कृतिक उद्देश्यों और अभिप्रेतों से युक्त होता है। इस तरह रचनाकार मानवीय सारतत्व के द्वन्द्वात्मक विश्लेषण के द्वारा नये और समृद्धजीवन रूपों को गढ़ता है। वह मनुष्य को गढ़ता है, उसे रचता है। वह पहले से अधिक सामर्थ्यवान और शक्तिवान संवेदन-व्यक्तित्व को आकृति देता है। इसीलिये तो सस्ती और कोरी भावुकता रचना नहीं होती, वह यंत्रवतजीवन के रूपवाद की तकनीक या अलंकार नहीं हो सकती।

रचना-विवेक समाज के क्रियाशील जीवन से सम्बद्ध होता है, रचना के रस में जीवन ही निःसृत होता है। उसमें अपने समय तक मूल द्रव्य की (प्राकृतिक विज्ञान, समाज विज्ञान तथा मानविकी आदि) आन्तरिक अवस्थाओं का परावर्तन होता है। रचना में प्रकृति की सामंजस्यीकृत प्रक्रियाओं का परावर्तन होता है। रचना में अनुस्यूत जीवन एक बृहद संस्कृति की सृजनशीलता के गुणों से युक्त होता है। अतः रचना किसी भी हालत में तटस्थता का प्रदर्शन नहीं कर सकती, न ही उसमें शैथिल्य आ सकता है। सृजनशीलता का स्वभाव तटस्थताधर्मी नहीं होता, वह उदासीन और पलायन-वृत्ति की नहीं होती वह निवृत्ति मूलक नहीं होती सृजन धर्म में न्यून और अल्प के

वार्धक्य की, उसके विस्तार की कल्पना रहती है लेकिन यह कल्पना न तो रिक्तता से उत्पन्न होती है और न पूर्वानुमानित अमूर्तों, अज्ञातों से फलित होती है। सृजनकल्पना के स्रोत शून्य में नहीं होते, रहस्यवाद में नहीं होते, वे तो जीवन के व्यक्त आधारों की विकासमान अवस्थाओं तथा इन अवस्थाओं से प्राप्त निष्कर्षों और निष्पत्तियों को प्रकाशित करते हैं।

यदि रचना में जीवन का सृजन होता है, यदि जीवन कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं है, वह दृश्यमान और अनुभूत है, तो रचनाकार वेदान्ती मुद्राओं में किसी भी क़िस्म के अद्वैत का प्रतिपालन नहीं कर सकता। न ही वह मनुष्य को क्षणजीवी या निरर्थक कीडे की तरह जीने वाला बना सकता है। सृजन चेतना यदि जीवन से सम्पृक्त है तो ह्रासशील नहीं हो सकती क्योंकि जीवन तो निरन्तर उच्चतर विकास की ओर अग्रसर होता है। जीवन को न्यून करके उसके निषेधात्मक औचित्य को बतलाकर अथवा उसके बिखराव और अन्तर्विरोधों की स्थूल दशाओं को बतलाकर रचनाकार सृजन के अगणित स्रोतों को अवरुद्ध करता है, उन्हें अस्वीकार करता है यहीं पर उसके एकाकी, संकीर्ण और पूर्वाग्राही मतवाद प्रकट होते हैं। जीवन को उत्कर्ष विधायक मार्ग पर ले जाने वाले रचनाकार में अपार संभावनायें रहती हैं। ऐसा रचनाकार ही हीन और अमानवीय व्यवस्थाओं के विरुद्ध होता है, वह विकल्प की खोज में रहता है। जीवन का सृजन करने वाला रचनाकार संकट, संत्रास तनाव और विलगावों की निष्पत्ति नहीं करता वह एकाकीपन और अजनबीपन के चित्र नहीं बनाता। ऐसी स्थितियों से उबरने के लिये आत्म संघर्ष करता है। विकल्प की खोज में रचनाकार यथास्थिति से लड़ता है। इस कार्य में उसका रचना-विवेक ठोस, स्पष्ट और यथार्थवादी होता है, वह पक्षधर होता है क्योंकि पक्षधरता ही उसके रचना विवेक का नियमन और संचालन करती है। उसी से उसकी गुणात्मक शक्तियाँ निर्देशित होती है। उसके मानसिक लगाव स्पष्ट होते हैं। चूँकि सांस्कृतिक विकल्प की खोज भी एक संघर्ष है, वह सोद्देश्य होता है अतः पक्षधरता और प्रतिबद्धता के बगैर अनुशासित रचना-विवेक की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

### संघर्ष और स्वतंत्रता के संदर्भ

लेकिन रचना में परिवर्तन और संघर्ष हमेशा संदेह-विचार और उसकी क्रियाशीलता के बीच घटित होता है। इसी में रचना के कर्त्तव्य, आचरण और दायित्वो के प्रश्न उपस्थित होते हैं, उसकी प्रासंगिकता तय होती है। ऐसी हालत में ही रचना एक सामान, एक चुनौती, एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम की प्रेरणा हुआ करती है। इसी स्थिति में रचना यथास्थिति की जड़ता को तोड़ती है, निहित स्वार्थों और उनके षड्यन्त्रों का पर्दाफाश करती है। यहीं पर वह शोषण की संस्कृति को अमान्य घोषित करके उसके अमानवीय और मानवद्रोही व्यवहार के विरुद्ध होती है इसी क्रान्तिकारी धर्म के

निर्वाह के लिये रचनाकार को स्वतन्त्रता की जरूरत होती है। इसी स्वतन्त्रता के बल पर वह मानव और मनुष्यता का खुले रूप में पक्ष ले सकता है, मानवीय प्रतिबद्धता के सार्वजनिक गुणों को प्रकाश में ला सकता है। अतः रचना हमेशा ही क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिये (रचनाकार और पाठक दोनों के लिये) स्वतंत्र परिस्थितियों की माँग करती है। इस भूमिका से बाहर की रचना में लगे हुये रचनाकार को स्वतंत्रता की माँग के लिये कुछ कहना नहीं पड़ता। सड़े-गले दर्शन को, निलर्ज्जतापूर्ण आचरण को तथा निजी मान सत रंगों को शब्दबद्ध करने के लिये, छन्दबद्ध करने के लिये स्वतंत्रता की इच्छा रखना हास्यास्पद सा लगता है।

रचनाकार के लिये स्वतन्त्रता की आवश्यकता कब, किसलिये और किसके निमित्त होती है? रचना की वस्तु के निजी रूप नहीं होते, वह मनुष्य के निमित्त होती है। क्या अपने नंगेपन को उघारने के लिये रचनाकार को स्वतंत्रता की अर्जी देनी पडती है? शीतयुद्ध के दौरान रचनाकार की स्वतंत्रता के सवाल को बिगाड़ा गया और आज भी शीत युद्ध के फैलाने वाली ताकतें इस सवाल को गलत ढंग से उठाती है। रचनाकार, रचना और पाठक के अभिन्न सम्बन्ध में स्वतंत्रता का सवाल हमेशा स्पष्ट रहा है। यही कारण है कि अतीत से लेकर मध्यकाल तक रचना के संदर्भ दर्शन और धर्मशास्त्र से बनते और बिगड़ते रहे हैं। वह सता के ईर्द-गिर्द वीर रसात्मक तेवर में मुखरित होती रही है। रचना में अपने युग की समस्यायें प्रेक्षेपित होती रही हैं। रचना मनुष्य के जीवन्त सत्य के रूप में तटस्थ कभी नहीं रही है और फिर यथार्थ की अभिव्यक्ति करने वाली रचना की अन्तर्वस्तु सामयिक समस्याओं से असम्पृक्त भी नहीं हो सकती। सामयिक जीवन से असम्पृक्त होकर रचना-संवेदन की गति स्थिर होने लगती है, वह बीते हुये, स्मृति-जन्य पूर्व-नियोजकों की वस्तु बन जाती है। वह जड़ सूत्रवादी जीवन का दर्शन बन जाती है।

इस तरह रचना में स्वतंत्रता की माँग उसकी गतिशील जीवन-चेतना को सूचित करती है और जीवन-चेतना की विकासमान निरन्तरता का बोध संघर्ष का बोध होता है। यह संघर्ष मनुष्य और प्रकृति के बीच अथवा प्रकृति और इतिहास के बीच तथा पुरातन और नवीन के बीच दिखाई देता है। रचना का संघर्ष ग्राह्यात्मक होता है उसमें बहु समावेशी शक्तियाँ समाहित होती रहती हैं, वह सचेत होकर अपने युग तक की मानवीय सारवस्तु को परावर्तित करती है और इस तरह एक समृद्ध जीवन का वरण करती है। अतः रचना में स्वतंत्रता की माँग संवेदना-संस्कृति के स्तर पर संघर्ष छेड़ने के लिये होती है। ऐसी रचना का सम्बोधन "स्व" के लिये, "व्यक्ति" के लिये नहीं होता। वह समूह और समाज की उत्कर्ष-विधायक परिस्थितियो के निर्माण के लिये रची जाती है। रचनाकार इस कार्य को अराजक होकर नहीं कर सकता समाज-निरपेक्षता के दर्शन से नहीं कर सकता और उदासीन रहकर नहीं कर

सकता। उसके पास सामाजिक ऐतिहासिक विकास का कारणात्वबोध होना चाहिये तभी उसके संवेदनात्मक सम्प्रत्ययन विशद और व्यापक हो सकेंगे और तभी उसमें वस्तुनिष्ठ अनुशासन आ सकेगा और तभी वह यथार्थ रूप में संस्कार और संस्कृति को सम्बोधित हो सकेगा। इस तरह की रचना का इतिहास-दर्शन होता है। वह इतिहास में अपनी शख्सियत को स्पष्ट करती है, उसकी वास्तविक पहचान होती है।

कुछ रचनायें मूल्य-निषेध की होती हैं। इनमें वर्जनायें रहती हैं, रूढ़ियाँ रहती हैं। इनमें इतिहास-तत्व का अभाव होता है, वह स्मृति-रोमांच के अर्थ में होता है, इनमें वर्तमान अल्पप्राण होता है। ऐसी रचनाओं में किसी भी तरह का यथार्थ मिथ्या चेतना के रूपों में बदलता रहता है। इसी तरह की रचनाओं में व्यक्ति के, उसके वैशिष्ट्य के अन्तिरंजित प्रारूप बनते हैं। इन प्रारूपों के स्रोत देशकाल के यथार्थ से मुक्त होते हैं, वे भ्रमों और सम्मोहनों से युक्त होते हैं। इनमें आकस्मिकताओं, अपार्थिव-तत्व योजनाओं का योगदान रहता है और निष्पत्तियाँ रहस्यात्मक चमत्कारों से भरपूर होती हैं। इस तरह की रचना स्वतंत्रता को नहीं निर्वाण या मोक्ष को लक्षित होती है। उसके मध्य में प्रकृतवाद और मनोगत तथ्यों का घोल रहता है। ऐसी रचना में कालिदास की लय और सिनेमाई सुखबोध रहता है। ऐसी रचना मन को नशीला बनाती है, विलासिताप्रिय बनाती है। कभी कमरे के एकांत का तो कभी हिमालय के एकांत का साक्षात्कार कराती है। ऐसी रचनाओं की कोई नागरिकता नहीं होती।

रचना में मनुष्य के 'होने' और 'बनने' की समझ विकसित होती है। जहाँ मूल्य-हीनता और मूल्य निषेध की रचना में शब्द और अर्थ अपनी क्रियमान गति से अलग रहते हैं, वहीं जीवन के नयेपन की खोज करने वाली रचना में शब्द और अर्थ की संस्कृति हमेशा क्रियमान रहती है। इतिहास से मुक्त रचना में मनुष्य अपने यथार्थ रूपों में, प्रमाणिक रूपों में तथा वस्तुनिष्ठ अर्थों में उपस्थित नहीं होता। मनुष्यता के क्रियमान-तत्व अनुपस्थित होते हैं। ऐसी हालत में रचना केवल अलंकार या छंद बन कर रह जाती है। इस तरह रचना में उतरे हुये मनुष्य की पहचान का आधार इतिहास ही हुआ करता है।

रचना में ऐसा क्या कुछ होता है जो मनुष्य को अनिवार्य रूप से अपनी ओर खीचता है और उसे प्रभावित किये बगैर नहीं रह सकता? इसके लिये रचना में निरूपित मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की ओर देखना पड़ेगा। क्योंकि आवश्यकताओं के संदर्भ में मनुष्य निश्चेष्ट और तटस्थ नहीं रह सकता, वह हमेशा क्रियाशील रहता है और उसी से रचना में भी कई वस्तु का प्रवेश होता है। इस तरह रचना केवल भाषा नहीं है, उसकी अन्तर्वस्तु ही निर्णायक होती है।

कहा गया है कि रचना समूचे ऐतिहासिक अनुभव की विकसित मूल्य-चेतना

भौतिक परिस्थितियों में शोषण के नैतिक औचित्य को सही ठहराने के लिये 'धर्म' एक विशाल इन्टरप्राइज़ की तरह पल्लवित हुआ। धर्म के सहारे मनुष्य एक ओर श्रम के यथार्थ मूल्य से विरत होता गया दूसरी ओर आत्मा के स्तर पर विभक्त होता गया। वह उच्चता और श्रेष्ठता के बोध में 'देवता' तथा हीनता और पराजय के बोध में 'राक्षस' और 'दास' बनता चला गया। इस सबके केन्द्र में था "शोषण" जिसने सबसे पहले अपने खिलाफ सच्ची गवाही देने वाले संस्थान इतिहास को नकारा और उसे अपदस्थ करके माईथालाजी को जगह दी। इसीलिये शोषण के गर्भ से पैदा होने वाली संस्कृति इतिहास-मुक्त रहने के लिये कटिबद्ध होती है। यह शोषण है जिसने मनुष्य को पदच्युत करके अवतारों को, पैगम्बरों को नियुक्त कर दिया। श्रम को दास और बन्दा बना दिया। इस तरह इतिहास में शोषण एक मानवी कृत विचार की तरह दिखाई देता है।

यह वैज्ञानिक सत्य है कि इतिहास की यथार्थ और वास्तविक समझ से ही शोषण की तमाम मानवी कृत विचार-परम्पराओं का विरोध शुरू हो जाता है। इसी-लिये शोषण की दुनिया में "इतिहास" पर फ़ासिस्ट पकड़ होती है—इतिहास को तोड मरोड़कर, निर्जीव बनाकर रखने से ही जनता को उसकी ठोस विरासत से बाहर रखा जाता है। अतः ऐतिहासिक भौतिकवाद ही शोषण का दुश्मन है। क्योंकि विज्ञान के विकास में श्रम की मूलभूत भूमिका है—अतः विज्ञान के युग में श्रम को नकारा नही जा सकता। श्रम की महत्ता को समझने के कारण उसकी विरोधी ताकतें अपनी समूची ऐतिहासिक विरासत के साथ धराशायी हो गयी हैं और हो रही हैं। मनुष्य अपने श्रम के ऐतिहासिक महत्व को समझने लगा है, वह अपनी नियति और अस्तित्व को श्रम के मूल्य से आँकना सीख चुका है। अतः शोषण की संस्कृति संकटापन्न है, मृतप्राय है, लड़ाई छिड़ चुकी है—विजय मनुष्य के इतिहास की होगी—इतिहास के निर्धारक और नियामक श्रम की होगी। अब शोषण की संस्कृति के ह्रास की परि-स्थितियाँ पैदा हो गयी हैं।

अब अगर "अर्थशास्त्र" और "शोषण" के नाम से सर चकराने लगता है, दिल की धड़कन तेज होने लगती है तो क्या विज्ञान के युग में पुराने तौर-तरीको से मनुष्य को प्रतिष्ठित किया जा सकता है? या फिर आत्मपरायेपन के संसार को रचना-त्मक बनाये रखा जा सकता है? पूँजीवादी आधुनिकता—बोध में समाया हुआ आत्मपरायापन सांस्कृतिक निष्क्रियता का लक्षण है, वह विज्ञान के सामाजिक चरित्र का विरोधी है। इतिहास की परत दर परत पड़ताल से ज्ञात होता है कि संस्कृति के नाम से जिसे 'सुन्दर', 'उदात्त' और 'महान' कहा गया उसमें जनगण की मुख्य चेष्टाओं और क्रियाओं को महत्व नहीं मिल सका। संस्कृति आनुष्ठानिक रही है,

रही है, [illegible] संरक्षक रहे हैं। शोषण के जो सम्बन्ध विगत युगो में

जमीदारों और सामंतों के किसानों और घरेलू उद्योगों में लगे कर्मियों से थे वैसे ही शोषण केन्द्रित सम्बन्ध आज के विशाल औद्योगिक घरानों और संस्थानों के मजदूरों और मध्य-वित्तभोगी कर्मचारियों से हैं। अन्तर भौतिक परिवेश के बदलाव का है। जहा प्रथम प्रकार के सम्बन्धों में शोषण की संस्कृति अबोध थी, वहीं दूसरे प्रकार के भौतिक सम्बन्धों में शोषण के विरुद्ध संघर्ष मिलता है। अतः प्रथम प्रकार के परिवेश की संस्कृति और उच्चता का आज कोई स्थान नहीं रहा, वह आधुनिक अनुष्ठानों, प्रतिष्ठानों से बाहर आ चुकी है। आज की शोषण व्यवस्था में उपभोक्ता सस्कृति का विस्तार हुआ है। इसी उपभोक्ता संस्कृति में है—"आत्मपरायापन" जिसमें विघटन और विद्रोह की चेतना पैदा होती है—उपभोक्ता संस्कृति अपने भीतरी अन्तर्विरोधों से टूटने लगी है, वह विज्ञान, तकनालाजी के सामाजिक फैलाव में अपनी कुण्ठाओं और अपने छद्मों से छोटी हो रही है।

देखना है कि संस्कृति के नाम से मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों में पूजी जाने वाली ईश्वर भावना तथा संस्कृति के नाम से कला, साहित्य एवं रंगकर्मों में प्रकाशित और प्रदर्शित होने वाली "माँगल्य" और "सौभाग्य" की वर्गबद्ध विभूतियाँ तथा सस्कृति के नाम से कानून और न्याय व्यवस्था में पाई जाने वाली प्रभुत्व सम्पन्न निरंकुश अभिजात की क्रूरता के सरोकार कैसे रहे हैं ? ईश्वर में श्रद्धा और भक्ति भाव रखने वाले, समर्पण में आस्था रखने वाले समूह और समाज पिछड़ क्यों गये हैं ? जीवन के वास्तविक स्रोत कहाँ है ? रचना को ठोस रूप में सामने लाने वाले उपकरण कौन से है ? इस तर्क से कौन जूझेगा ? धर्म या विज्ञान, माइथालाजी या इतिहास, मनुष्य या देवता ? अमृत-लाभ की दंतकथायें अब बेअसर क्यों हो गयी हैं ? जिस विचार ने आदमी को देवता और राक्षस में बाँट दिया था, पृथ्वी को स्वर्ग और नरक में बाँट दिया था, उस विचार की बुनियाद में शोषण था। देवता और स्वर्ग की विजयी दृष्टि शोषक की थी, राक्षस और नरक की पराजित नियति शोषित की थी। शोषक भव्यता और ऐश्वर्य से भरता गया शोषित हीनता और दरिद्रता से रिसता गया।

कहने का तात्पर्य है कि प्राचीन काल से मध्ययुग तक इतिहास-तत्व के विरुद्ध बराबर संघर्ष होता रहा है। दर्शन, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, साहित्य कला आदि सभी ने उसकी सत्ता को नगण्य बनाया गया है। उसके अस्तित्व को झुठलाया गया है। सभी ने संयुक्तमोर्चे बनाकर इतिहास-तत्व के विरुद्ध लड़ाई लड़ी है। इसीलिये शोषण के लाभों को चोर डकैतों की तरह बाँटा जाता रहा है। कानूनी जामे में उसे न्यायगत भी ठहराया जाता रहा है। क्या कभी सोचा है कि साहित्य और कला जो मानवीय रिश्तों से पैदा होती है, उन्हीं को विकसित और परिष्कृत करती है, उसका सम्बोधन ईश्वर और अव्यक्त कैसे हो गया ? उसकी नागरिका [illegible] कैसे हो गयी ? जिस

भौतिक परिस्थितियों में शोषण के नैतिक औचित्य को सही ठहराने के लिये 'धर्म' एक विशाल इन्टरप्राइज़ की तरह पल्लवित हुआ। धर्म के सहारे मनुष्य एक ओर श्रम के यथार्थ मूल्य से विरत होता गया दूसरी ओर आत्मा के स्तर पर विभक्त होता गया। वह उच्चता और श्रेष्ठता के बोध में 'देवता' तथा हीनता और पराजय के बोध में 'राक्षस' और 'दास' बनता चला गया। इस सबके केन्द्र में था "शोषण" जिसने सबसे पहले अपने खिलाफ सच्ची गवाही देने वाले संस्थान इतिहास को नकारा और उसे अपदस्थ करके माईथालाजी को जगह दी। इसीलिये शोषण के गर्भ से पैदा होने वाली संस्कृति इतिहास-मुक्त रहने के लिये कटिबद्ध होती है। यह शोषण है जिसने मनुष्य को पदच्युत करके अवतारों को, पैगम्बरों को नियुक्त कर दिया। श्रम को दास और बन्दा बना दिया। इस तरह इतिहास में शोषण एक मानवी कृत विचार की तरह दिखाई देता है।

यह वैज्ञानिक सत्य है कि इतिहास की यथार्थ और वास्तविक समझ से ही शोषण की तमाम मानवी कृत विचार-परम्पराओं का विरोध शुरू हो जाता है। इसीलिये शोषण की दुनिया में "इतिहास" पर फ़ासिस्ट पकड़ होती है—इतिहास को तोड मरोड़कर, निर्जीव बनाकर रखने से ही जनता को उसकी ठोस विरासत से बाहर रखा जाता है। अतः ऐतिहासिक भौतिकवाद ही शोषण का दुश्मन है। क्योंकि विज्ञान के विकास में श्रम की मूलभूत भूमिका है—अतः विज्ञान के युग में श्रम को नकारा नहीं जा सकता। श्रम की महत्ता को समझने के कारण उसकी विरोधी ताकतें अपनी समूची ऐतिहासिक विरासत के साथ धराशायी हो गयी हैं और हो रही हैं। मनुष्य अपने श्रम के ऐतिहासिक महत्व को समझने लगा है, वह अपनी नियति और अस्तित्व को श्रम के मूल्य से आँकना सीख चुका है। अतः शोषण की संस्कृति संकटापन्न है, मृतप्राय है, लड़ाई छिड़ चुकी है—विजय मनुष्य के इतिहास की होगी—इतिहास के निर्धारक और नियामक श्रम की होगी। अब शोषण की संस्कृति के ह्रास की परिस्थितियाँ पैदा हो गयी हैं।

अब अगर "अर्थशास्त्र" और "शोषण" के नाम से सर चकराने लगता है, दिल की धड़कन तेज होने लगती है तो क्या विज्ञान के युग में पुराने तौर-तरीको से मनुष्य को प्रतिष्ठित किया जा सकता है ? या फिर आत्मपरायेपन के संसार को रचनात्मक बनाये रखा जा सकता है ? पूंजीवादी आधुनिकता—बोध में समाया हुआ आत्मपरायापन सांस्कृतिक निष्क्रियता का लक्षण है, वह विज्ञान के सामाजिक चरित्र का विरोधी है। इतिहास की परत दर परत पड़ताल से ज्ञात होता है कि संस्कृति के नाम से जिसे 'सुन्दर', 'उदात्त' और 'महान' कहा गया उसमें जनगण की मुख्य चेष्टाओं और क्रियाओं को महत्व नहीं मिल सका। संस्कृति आनुष्ठानिक रही है, प्रतिष्ठानिक रही है, उसके संरक्षक रहे हैं। शोषण के जो सम्बन्ध विगत युगो मे

जमीदारों और सामंतों के किसानों और घरेलू उद्योगों में लगे कर्मियों से थे वैसे ही शोषण केन्द्रित सम्बन्ध आज के विशाल औद्योगिक घरानों और संस्थानों के मजदूरों और मध्य-वित्तभोगी कर्मचारियों से हैं। अन्तर भौतिक परिवेश के बदलाव का है। जहाँ प्रथम प्रकार के सम्बन्धों में शोषण की संस्कृति अबोध थी, वहीं दूसरे प्रकार के भौतिक सम्बन्धों में शोषण के विरुद्ध संघर्ष मिलता है। अतः प्रथम प्रकार के परिवेश की संस्कृति और उच्चता का आज कोई स्थान नहीं रहा, वह आधुनिक अनुष्ठानों, प्रतिष्ठानों से बाहर आ चुकी है। आज की शोषण व्यवस्था में उपभोक्ता सस्कृति का विस्तार हुआ है। इसी उपभोक्ता संस्कृति में है—"आत्मपरायापन" जिसमें विघटन और विद्रोह की चेतना पैदा होती है—उपभोक्ता संस्कृति अपने भीतरी अन्तर्विरोधों से टूटने लगी है, वह विज्ञान, तकनालाजी के सामाजिक फैलाव में अपनी कुण्ठाओं और अपने छद्मों से छोटी हो रही है।

देखना है कि संस्कृति के नाम से मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों में पूंजी जाने वाली ईश्वर भावना तथा संस्कृति के नाम से कला, साहित्य एवं रंगकर्मों में प्रकाशित और प्रदर्शित होने वाली "माँगल्य" और "सौभाग्य" की वर्गबद्ध विभूतियाँ तथा सस्कृति के नाम से कानून और न्याय व्यवस्था में पाई जाने वाली प्रभुत्व सम्पन्न निरंकुश अभिजात की क्रूरता के सरोकार कैसे रहे हैं ? ईश्वर में श्रद्धा और भक्ति भाव रखने वाले, समर्पण में आस्था रखने वाले समूह और समाज पिछड़ क्यों गये हैं ? जीवन के वास्तविक स्रोत कहाँ है ? रचना को ठोस रूप में सामने लाने वाले उपकरण कौन से है ? इस तर्क से कौन जूझेगा ? धर्म या विज्ञान, माइथालाजी या इतिहास, मनुष्य या देवता ? अमृत-लाभ की दंतकथायें अब बेअसर क्यों हो गयी हैं ? जिस विचार ने आदमी को देवता और राक्षस में बाँट दिया था, पृथ्वी को स्वर्ग और नरक में बाँट दिया था, उस विचार की बुनियाद में शोषण था। देवता और स्वर्ग की विजयी दृष्टि शोषक की थी, राक्षस और नरक की पराजित नियति शोषित की थी। शोषक भव्यता और ऐश्वर्य से भरता गया शोषित हीनता और दरिद्रता से रिसता गया।

कहने का तात्पर्य है कि प्राचीन काल से मध्ययुग तक इतिहास-तत्व के विरुद्ध बराबर संघर्ष होता रहा है। दर्शन, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, साहित्य कला आदि सभी में उसकी सत्ता को नगण्य बनाया गया है। उसके अस्तित्व को झुठलाया गया है। सभी ने संयुक्तमोर्चे बनाकर इतिहास-तत्व के विरुद्ध लड़ाई लड़ी है। इसीलिये शोषण के लाभों को चोर डकैतों की तरह बाँटा जाता रहा है। कानूनी जामे में उसे न्यायगत भी ठहराया जाता रहा है। क्या कभी सोचा है कि साहित्य और कला जो मानवीय रिश्तों से पैदा होती है, उन्हीं को विकसित और परिष्कृत करती है, उसका सम्बोधन ईश्वर और अव्यक्त कैसे हो गया ? उसकी नागरिका कैसे हो गयी ? जिस

तरह आर्यों के ऋषिकुल थे, मुनियों के वंश थे, उसी तरह मध्ययुग में सन्तों और भक्तों की परम्परा दिखाई देती है।

इतिहास साक्षी है कि वर्णविशिष्ट व्यक्ति ने गोत्ररचना के द्वारा मनुष्य के नियम, धरम और कर्म को बाँट दिया और बाद में जातियों, उपजातियों में उसे और अधिक जटिल बना दिया। धीरे-धीरे उच्च वर्ण और जाति के तथा निम्न वर्णों की जाति के वर्ग बन गये। इतिहास में उच्च वर्णव्यवस्था को मान और आदर मिलता है, उनके विजयोल्लासों की गाथायें-कथायें मिलती हैं। यह सब कुछ शोषक संस्कृति का महोच्चार है जो राजाओ, सामंतों के दरबारों में सितार और तबले के राग-रंगों मे, नृत्यों में अभिव्यक्त होता है। दूसरी ओर शोषण से पिसे हुये को मिलती है करताल, मजीरा और ढोलक जो चौपाल और मंदिर के प्रांगण में बजती है। शोषण की विजय ने रसिक जनों के विलास को राधा और कृष्ण के नाम से दरबारी लीलाओं में पेश किया, भोग की हाव-भाव चेष्टाओं से शास्त्रिय मानदंडों में पेश किया और हारे हुये को मिली मुरलीवाले घनश्याम की स्मृति जो 'बालरूप में' 'सखारूप' में मन बहलाने के लिये काफी थी। शोषण की उच्चाकांक्षा वैष्णवी भोगवाद में तथा हीनता वैष्णवी दास भावना में दिखाई देने लगी। यह शोषण है जिसने दयालु और दीन के द्वैत को समाज में उतार दिया। यह सब कुछ इतिहास-बोध के विरुद्ध संयुक्त मोर्चे के रूप में लड़ी गयी विचारधारात्मक लड़ाई से हुआ। मनुष्य अपने यथार्थ को नहीं पहचान सका, वह अपनी स्थिति के प्रति तार्किक नहीं बन सका। फलस्वरूप, वह अपनी मुक्ति का संघर्ष भी नहीं कर सका क्योंकि उस समय तक मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नहीं थे, भाववादी थे। यथार्थवादी नहीं थे, आदर्शवादी थे।

जैसे-जैसे मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों में तकरार बढ़ती गयी, वैसे-वैसे मनुष्य अधिक बौद्धिक और यथार्थवादी होता गया, संघर्षधर्मी होता गया। लम्बे समय तक उत्पादन स्रोतों में एकरसता रहने के कारण समूचे मानवीय सम्बन्ध भी संश्लिष्ट से हो गये थे, उनकी गति क्षीण सी हो गयी थी। फलस्वरूप, जीवन के अधिकतम पैटर्नस् में बासीपन आ गया था, ताजगी नहीं रह गयी थी, परम्परागत जीवन दर्शन रूढ़ियों में, रिचुअलस् में जड़ होने लगा था, दीर्घकाल तक परम्परागत आचरण मे रहने के कारण सब कुछ यांत्रिक-अभ्यास में ढल चुका था। खोखली प्रदर्शनप्रियता आचरण का मापदंड हो चुकी थी। कर्महीनता, चिन्तनहीनता के साम्राज्य में स्मृतियों, पुराणों की कथाओं से नीति-धर्म की पहचान होने लगी। पुराण-कथाओं में आस्था रखने वाले आज भी इतिहास के वैज्ञानिक अर्थ को अस्वीकार करते हैं और नदी के मौसमी द्वीप बनकर जीने को अच्छा मानते हैं।

शोषण की ताकत से पैदा होने वाला व्यवस्था और संस्कृति के सभी प्रतिष्ठानों, संस्थानों ने योजनाबद्ध ढंग से इतिहास पर आक्रमण किये हैं दर्शन ने अपने अमूर्त

अखंडतावादी सिद्धान्तों से, वेदान्त के माध्यम से सापेक्षतावादी भौतिक आधारों को तुच्छ बताया, माया और क्षणभंगुर बताया। नाशवान कहकर भौतिक अस्तित्व की खिल्ली उड़ाई और 'पुनर्जन्म' के द्वारा अपने वर्गीय हितों की रक्षा की। पुनर्जन्म के विचार ने उद्देश्य-नियति और भाग्यफल के द्वारा भीरु और निष्क्रिय कोटि के चरित्र का निर्माण किया। 'पुनर्जन्म' ने मनुष्य के सारतत्व को नपुंसक बना दिया और शोषण की जड़ों को पाताल तक पहुँचा दिया। ब्राह्मणत्व की सबसे बड़ी विजय इस पुनर्जन्म-सिद्धान्त के समाजीकरण में हुई जिसका प्रभाव बौद्धों तथा अन्य अनेक धार्मिक सम्प्रदायों पर दिखाई देता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त की सामाजिक स्वीकृति का नतीजा हुआ कि समूची जाति ही भिक्षुवृत्ति की हो गयी। ब्राह्मण भी भिखारी हो गया और शूद्र भी भिखारी हो गया। 'राजा और रंक' की चरित्र गाथायें पैदा हो गयीं। इसी पुनर्जन्म ने उत्पादन-स्रोतों और सम्बन्धों का अमूर्तीकरण किया। विधाता और भाग्य की दुनिया को समूची जिन्दगी में उतार दिया। यहीं से शुद्धतावादी, पवित्रतावादी, कल्याणवादी दृष्टिकोण बनने लगता है। नये-नये रूपों में आद्यरूपों, मिथकों के उपदेश-सूत्रों की रचना होने लगी। संस्कृति की इस संरचना में मोक्ष और निर्वाण के, भक्ति-वाद और भाग्यवाद के, ब्रह्मानंद सहोदरत्व और अभिजात्यवाद के प्रवर्ग बनने लगे। इस तरह, उत्पादन स्रोतों में नवीनता और विकास के बगैर मनुष्य का जीवनदर्शन स्थिर सा होने लगा जिसकी निष्पत्ति हुई उस माइथालाजिकल-संस्कृति में जो शक्तिहीन किन्तु बेहद जटिल रही है। दीर्घकाल तक मनुष्य की चेतना और कर्म पर हावी रहने वाली माईथालाजी के उलझन भरे इतिहास को समझें तो मनुष्य के भविष्य की संभाव-नाओं पर गहरी चिंता होने लगेगी। अफ्रीका के डरावने जंगलों में पाये जाने वाले अगणित भीमकाय और अति सूक्ष्म जीवजन्तुओं की तरह यह माईथालाजी थी जो मनुष्य के मन-मस्तिष्क पर छाई रही। इसके कारण इतिहास मायावी हो गया। भूत-प्रेत, देवी-देवता सभी उसमें समाते गये। इतिहास उस ममी की तरह हो गया जिसमें जहरीले कीटाणुओं की अनेक पीढ़ियाँ वास करने लगी। मनुष्य अपार्थिव तत्वों के अधीन हो गया, आकस्मिक चमत्कारों से निरीह हो गया। वह मिथकों के प्रभामण्डल में खो गया। जादू-टोना, अन्धविश्वास, पूजा, कीर्तन-भजन, रास-रासलीला के नशे में चूर हो गया। सब कुछ जादुई सा हो गया।

हर बड़े रचनाकार ने अपनी ताकत और अभिरुचि के अनुरूप अखंडतावादी अमूर्तदर्शन और माइथालाजी (आगम, निगम पुराणादि) को निचोड़कर जिस सारतत्व का साक्षात्कार किया उसमें पुरुषोत्तम के विविध रूपों और गुणों का, उसके परमसमाज का परमभाव निहित था। समर्पण की बुनियादी में पराजय और पस्ती के साथ सामूहिक मन की निराशा भी होती है। मध्ययुगीन सगुण-वैष्णवभक्ति में यह त्रासदी मौजूद है। इसमें मानवादी आदर्शों के द्वारा कर्मक्षेत्र को नियंत्रित किया गया है मनुष्य की

वास्तविक क्रियाशीलता के द्वारा आदर्शों की रचना नहीं की गयी है। समस्त प्रकार की रचनाओं में अमूर्त सम्बन्ध-योग बने रहे हैं, वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध अनदेखे रह गये हैं।

जबकि इतिहास के रस को निचोड़कर पीने वाला रचनाकार आत्मसंघर्ष करता है। इस संघर्ष का आरम्भ भौतिक परिस्थितियों और आत्मगत परिवेश के टकराव से होता है। ऐसी हालत में मिथकों का संसार लुप्त होने लगता है, आलोचनात्मक व्यापार प्रमुख होने लगता है। ऐसी रचना के स्रोत पूर्व-धारणाओं और पूर्व-कल्पित रूपों, शैलियों से मुक्त होते हैं, उनमें स्कालैस्टिसिज्म नहीं होता। वे युग के दबावों से नि:सृत और मुख्यधारा से प्रेरित होते हैं। रचनाकार यथार्थ का सृजन करता है, इसी अर्थ में वह क्रान्तिकारी होता है, दुनिया को बदलना चाहता है। उसकी रचना मानवीय इन्द्रियज्ञान के क्रिया व्यापारों में यथार्थ-विवेक की सांस्कृतिक चेष्टाओं और अभिप्रायों को मूर्तित करती है। वह मानव-सम्बन्धों को पुनः-पुनः सृजित करती है। लेकिन ऐसे भी रचनाकार होते हैं जो केवल ध्वनियों को संजोते हैं, अर्थतत्व का संधान नहीं कर पाते। ये रचना के आत्मसंघर्ष को अमूर्तकारकों से धूमिल करते हैं, उसे ध्वनि-संयोजकों से संश्लिष्ट और बिम्बित तो करते हैं लेकिन उसकी मूलभूत आधार दृष्टि को, प्रेरक-शक्ति को छितरा देते हैं। उसकी वस्तु में यथार्थ गुणों को न्यून करते हैं। प्रतीकों की सृष्टि करके वस्तु को अनिर्दिष्ट और अनेकार्थक बनाते हैं। ऐसे रचनाकारों की दिमागी स्रोतास्विनियों में इतनी ताजगी और तरलता नहीं रह जाती है कि वह बदलते हुये भौतिक परिवेश की सच्चाई को अपना सकें तथा इस परिवर्तन के प्रति सजग पाठक को अपनी ओर खींच सके। आज का व्यक्ति चाहे किसी भी परिवेश में हो इतिहास से सम्बद्ध होने को मजबूर हो गया है। वह अपने सामयिक जीवन की गतिविधि से विमुख नहीं रह गया है, वह प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः अपने वर्ग की राजनीतिक, आर्थिक नीतियों का संवाहक हो गया है। वह समूचे सामयिक परिवेश की एक जीवित इकाई है जो समूचे को प्रभावित करती है। यदि रचनाकार और उसकी रचना इस तथ्य को नजरन्दाज करती है या फिर व्यक्ति को ऐसी आत्मपूर्ण इकाई के रूप में पेश करती है जिसके सरोकार निजी हैं, सामाजिक नहीं हैं, तो उसकी रचना का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा। वह प्रासंगिक नहीं हो सकेगी। पैदा होते ही शाश्वत हो जाएगी।

आत्मसंघर्ष के मार्ग से निर्मित होने वाली संवेदना के भाषिक आधार भी स्फूर्तिदायक होंगे क्योंकि "परिवेश और नजरिये" का संघर्ष, परिवेश और मान्यताओं का संघर्ष तथा परिवेश को नूतनमानवीय अर्थ में ढालने की कामना से जो संघर्ष पैदा होता है, उसी में शब्दों और अर्थों की नयी-नयी संभावनायें रहती है। बगैर इसके रचना यथास्थिति का गणित बनकर रह जाती है। रचना हर हालत में इतिहास के सन्दर्भ में ही अपनी संवेद्य-वस्तु भाषा शिल्प शैली और विधा की को
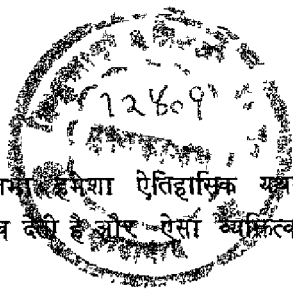
तोड सकती है । नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा हमेशा ऐतिहासिक यथार्थ की वस्तुनिष्ठ चेतना को अग्रसर करती है, उसे व्यक्तित्व देती है और ऐसा व्यक्तित्व ही ठोस और विश्वसनीय होता है।

## इतिहास और साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन

भारतीय समाज में आज भी शंकराचार्य है, मंडन-मिश्र हैं और उनके चेलो की भरमार है । इनके अतिरिक्त देश विदेश के विश्वविद्यालयों में चार पाँच वर्ष रहकर मृत पाठ्य-क्रमों से फार्मूलाबद्ध शिक्षा में प्रवीण कैरियरिस्ट हैं । इनके पास या तो कतरब्योंत का ज्ञान है या कुछ सूचनायें हैं । हमारे देश का प्राध्यापक आज भी सड़ीगली प्रणाली से पढ़ता और पढ़ाता है । हमारे प्राध्यापक के पास वह ज्ञान नहीं है जिसके द्वारा वह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अपना योगदान दे सके । उसके पास वैसा अनुभव नहीं है जिससे युवक शिक्षार्थी में स्फूर्ति ला सके, उसके आचरण को सामाजिक यथार्थ के प्रति जिम्मेदार बना सके । इतिहास की अनिवार्यताओं से सम्बद्ध होने तथा उनका ज्ञान कराने का कोई तर्क उसके पास नहीं है। चेतनागत विकास के अनुकूल होकर शिक्षा देने का कोई दृष्टिकोण ही नहीं है । वह अभी तक अपने ज्ञान को यथार्थ-वादी नहीं बना सका है उसमें आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य का अभाव है । वह विषय को जिन्दा या मुर्दा अजायबघर बनाये हुये है । उसमें भौतिक परिवेश और मनोगत अव-धारणाओं को मथने की ताकत नहीं है—वह मनोगत और प्रकृति आचरण को अपनाये हुये हैं ।

जब तक शिक्षा-व्यवस्था में द्वन्द्वात्मक वस्तुवादी प्रणाली का प्रयोग नही होगा, विषयों को उनके ऐतिहासिक विकास की भूमिकाओं में नहीं समझाया जाएगा तथा हर विषय के पारस्परिक सम्बध-सूत्रों को नहीं खोजा जाएगा, उनके अन्तर्विरोधो को नहीं पकड़ा जाएगा तब तक विषय की सर्वाङ्गीण समझ विश्लेषणात्मक नही हो सकेगी, निर्णयात्मक नहीं हो सकेगी, मूल्यनिर्धारक नहीं हो सकेगी । शिक्षा को अर्थपूर्ण बनाने का एक मात्र विकल्प है उसे द्वंद्वात्मक वस्तुवाद की प्रणाली से समझा जाए । इस प्रणाली के बगैर विषय यंत्रवत सा हो जाता है । जब तक विषय को उसकी ऐति-हासिकता में नहीं देखा परखा जाएगा तब तक उसकी असलियत का, उसकी बहुमुखी सभावनाओं का तथा उसके मानवीय हितार्थों का आकलन भी नहीं किया जा सकेगा । प्रत्येक विषय को अपने सामाजिक जीवन में घटित होना चाहिये । आचरण के स्तर पर उसे अपनी प्रामाणिक देनी चाहिए ऐसा न करने पर वह एक ''सिद्धान्त-प्रवर्ग'' बन कर रह जाएगा, डौम्मा बनकर रह जाएगा । प्रत्येक विषय के भीतर से मानवीय सार-तत्व छन छन कर उद्घाटित होना चाहिए लेकिन ऐसा तभी होगा जब विषय को अन्य विषयों की संगति में देखा जायेगा । अनुकूल और सहयोगी प्रकृति के विषयों की संगति मे ठोस नतीजे तब तक नहीं पाये जा सकते जब तक प्रतिकूल और शत्रुधर्मी विषयों की

कसौटी पर न कसा जाएगा। जैसा ऊपर कहा गया है कसौटी की विचारधारा ऐतिहासिक भौतिकवादी ही होगी, ज्ञान-विज्ञान और उसके शिक्षण की व्यवस्था में क्रान्तिकारी प्रयोगों का आशय ही द्वन्द्वात्मक नियमों के लागू करने से है। तभी एक गतिवान और प्रासंगिक विश्वदृष्टि बन सकेगी।

हमारे विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में साहित्य शिक्षण न सिर्फ दोषपूर्ण है बल्कि पूर्णतया निरर्थक है, मिथ्या है। यह आज भी व्याकरण और रस, छंद, अलंकार की पुरानी रीति नीति से बँधा है। उसकी यात्रा अधिक से अधिक पश्चिमी शास्त्रवाद, स्वच्छन्दतावाद और शैलीविज्ञान के पड़ावों तक हो सकी है। कहीं-कहीं पश्चिम की व्यावहारिक समीक्षा और वहाँ की पाठलोचन-पद्धति से लाभ उठाया गया है। कुल मिलाकर हमारे यहाँ का साहित्य-शिक्षण पिछड़ा हुआ है। उसे बिना रीढ़ का विषय बना दिया गया है। उसे व्यावसायिक ढङ्ग से इतना विज्ञापनीय और प्रदर्शनीय बना दिया गया है कि उसकी अनिवार्यता और उपयोगिता पर शक किया जाने लगा है। इस तथ्य को भुला दिया गया है कि कला और साहित्य के विकृत हो जाने, अर्थहीन हो जाने का मतलब संस्कृति के विकृत और अर्थहीन हो जाने से होता है। हमारी शिक्षण संस्थाओं में साहित्य के जीवन का विश्लेषण नहीं होता, उसकी शव-परीक्षा होती है।

मनुष्य के चरित्र का जिस तरह निर्माण और विकास होता है उसी तरह कला और साहित्य के चरित्र का निर्माण और विकास होता है। जरूरी है इस निर्माण और विकास की परिस्थितियों का मूल्यांकन किया जाए। ऐसा तभी होगा जब ज्ञान-विज्ञान के अन्य विषयों के समान ही दर्जा दिया जाए। साहित्य के पराहम-प्रधान दर्प को समाप्त करना होगा, उसकी परम्परावादी मनोगत पूर्व-निर्धारणाओं को अस्वीकार करना होगा तथा तुलनात्मक ढङ्ग से सामाजिक सम्बन्धों के नियमन में उसकी योग्यता को परखना होगा। ऐसा करने के लिये साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन को प्राथमिकता देनी होगी।

साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन इतिहास और यथार्थवाद की भूमि में हो सकता है। इतिहास, यथार्थवाद और साहित्य के त्रिकोणात्मक सम्बन्धों की रचना द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नियमों के तहतही हो सकती है। साहित्य यदि संस्कृति की ललित-दृष्टि या इतिहास और समाजशास्त्र की सौंदर्योन्मुखी चेतना हो सकता है तो इसी अर्थ में कि उसकी सत्ता के प्रगतिमान व्यवहार में विश्वास हो, उसकी वस्तु रचना की समृद्धि के नियमों की समझ हो। तभी साहित्य के प्रभाव का, उसके उद्देश्य का अध्ययन अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ किया जा सकता है। साहित्य के स्रोत और उपकरण यथार्थवादी होते हैं, उसका समूचा गारा ही स्पष्ट, ज्ञात और ठोस होता है। ऐसा तभी होता है जब उसके निर्माण की ऐतिहासिक परिस्थितियों का सही विवेक हो। इसीलिये इतिहास और यथार्थवाद से पैदा हुई रचना सुव्यस्थित और सुलक्षित होती है। ऐसी रचना के केन्द्र में जो मनुष्य होता है वह अपने कर्म या श्रम द्वारा उत्पन्न की गयी

संस्कृति की उपलब्धियों और सम्भावनाओं को आत्मसात किये रहता है, वह समाज की रचना के अधिकतम पहलुओं से जुड़ा होता है। ऐसी रचना में सामाजिक मनुष्य निरन्तर विकसित होता रहता है। एक सार्वजनिक गुणों वाला व्यक्ति अपनी नई-नई भंगिमाओं में सवंरता रहता है।

प्राचीन काल से आज तक कला और साहित्य में मानव, मानवीय और मानववाद का अर्थ निरूपण होता रहा है। कला और साहित्य में पाये जाने वाले मानव से ही जातीय चरित्र की पहचान की जाती है। इसी सन्दर्भ में हर देश को अपनी परम्पराओं के अनुकूल सौन्दर्य-बोधात्मक हेतुओं और प्रयोजनों पर विचार-विमर्श होता रहा है। हर युग की अपनी विश्वदृष्टि रही है तथा उसका प्रतिपादन करने वाली लोकप्रिय शैलियाँ और विधायें रही हैं। यदि विश्वदृष्टि रचना को समझने का प्रयास किया जाए तो जातीय संस्कृति के तमाम प्रतिमानों का असली रूप सामने आ जाएगा, जीवन सम्बन्धी वास्तविक हालातों से परिचय हो जाएगा। विश्वदृष्टि की रचना संश्लिष्ट होती है लेकिन उसके तार-तार को देखा परखा जा सकता है।

मानववादी विश्वदृष्टि में मनुष्य के भौतिक और यथार्थ गुण सक्रिय होते हैं और सक्रिय स्थितियों में ही मानव सृजनशील रहता है। लेकिन जब कभी यह विश्वदृष्टि इतिहास से असम्बद्ध और भौतिक-परिवेश से अलग-अलग पड़ने लगती है तभी उसकी प्रक्रिया और प्रकृति अन्तर्मुखी होने लगती है। अनुभववादी-आत्मवाद में बदलने और ढलने लगती है। ऐसी हालत में रचना का काव्य शाश्वत की, कल्पनी ईश्वर की ओर कलाकार प्रजापति की कक्षा में पहुँचने लगता है। वहाँ "अति" और "लघु" के तत्वमापक पैमाने बनने लगते है "शून्य" और "विराट" की दार्शनिक मुद्रायें बनने लगती हैं। यदि इन मूर्खतापूर्ण नासमझियों से बचना है तो साहित्य को (कि जिसमे मनुष्य अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य की सम्भावनाओं सहित निरन्तर जीवित रहता है) इतिहास की आँख से देखना होगा।

## शास्त्रवाद और स्वच्छन्दतावाद का इतिहास-दर्शन

साहित्य की सैद्धान्तिक मान्यताओं के, उसके प्रतिमानों के उत्कर्ष और ह्रास के ऐतिहासिक कारण होते हैं, जो समूची संस्कृति की सृजनशील प्रवृत्तियों में परिवर्तन की सूचना देते हैं। रचना में यदि प्रचलित वस्तु शिथिलाने लगे, उसका परिप्रेक्ष्य अनुपयोगी होने लगे तो समझ लेना चाहिये कि संस्कृति को सार्थक बनाये रखने के लिये नवीनता की जरूरत है। मूल्य-संधान का कार्य विधिवत शुरू हो जाना चाहिये। अक्सर होता यह है कि नवीनता के नाम पर मूल्य-संधान के नाम पर पुरानी वस्तुओं को ही नये कलेवर मे पेश करते रहते हैं। निष्प्राण और मूल्यहीन वस्तु को मथते रहते हैं, उसमें कभी संशोधन करते हैं, कभी सुधार करते हैं। मध्यममार्गी की तरह जोड़-तोड़ करते हुये, साठगाँठ बिठाते हुये, उलट फेर करते हुये, मृत होते हूये मूल्य को धकेलते रहते है।

फल यह होता है कि रचना की संस्कृति में स्फूर्ति और तेज नहीं रह जाता वह अपनी पहल खो देती है। जैसे-जैसे मनुष्य समाज का भौतिक परिवेश बदलता जाता है उसी अनुपात में उसकी सांस्कृतिक आवश्यकतायें भी बदलती जाती है, अभिरुचियाँ और सौंदर्य बोधात्मक अभिप्राय भी बदलते जाते हैं। इसी बदलाव की प्रक्रिया और प्रकृति पर नये जीवन-मूल्य की रचना होती है। रचनाकार के लिये बदलाव एक सांस्कृतिक दायित्व है, युग की अनिवार्यता और आवश्यकता है। बदलाव में यथास्थिति टूटती है, परिवर्तन-कारी शक्तियाँ तेज होने लगती हैं, वर्गीय हितों में टकराव होने लगता है। रचनाकार के सवेदन में भविष्य की संभावनाओं का सही चित्र उभरने लगता है। रचना में बदलाव की सैद्धान्तिक आकृतियाँ बनने लगती हैं।

भौतिक परिवेश में परिवर्तन आ जाने पर जीवन-दृष्टि को भी यथास्थित नही रखा जा सकता, यह इतिहास का नियम है। देखना यह है कि परिवर्तन को किस रूप मे पेश किया जा रहा है? उसकी रुकावटें कितनी हैं? विरोधी ताकतों पर विजय कैसे पायी जा सकती है? परिवर्तन के विरुद्ध लगी ताकतें कितने प्रकार के भुलावों में डालती है, कितने प्रलोभन देती हैं? रचनाकार परिवर्तन कामी दृष्टि को लोकप्रिय बनाता है। उसे जनता की वस्तु के रूप में पेश करता है। इस तरह उसकी रचना नूतन मूल्यदृष्टि का प्रारम्भ सूत्र बन जाती है। रचनाकार अपने समय की परिवर्तनकामी शक्ति से विरोध-पत्रों को रचना है, कभी रचना को आन्दोलनकारी जामा पहनाता है और कभी सघर्ष को क्रान्तिकारी विचार में उतार देता है। रचना में विरोध की सूचना, आन्दोलन-कारी मनोभाव तथा क्रान्तिकारी संघर्ष की भूमिका सामयिक इतिहास की आवश्यकता और उसकी सही पहचान से बनती है—ऐसी हालत में ही रचना जनशक्ति को तैयार कर पाती है, वैचारिक संघर्ष छोड़ पाती है। वह प्रेरक और प्रासंगिक बन पाती है। ऐसी रचना की वस्तु और शिल्प के उपकरण यथार्थ होते हैं। रचना में लफ्फाजी और भावुकता तभी आती है जब रचनाकार के पास परिवर्तन का भी दृष्टि का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य साफ नहीं होता और सामाजिक यथार्थ की बिखरी हुई धाराओं को एकजुट करके, उसे गति देने का कोई ठोस आधार नहीं होता। रचनाकार युग और समाज की अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों और धाराओं को विश्लेषित करता है, तभी वह प्रतिबद्ध विचार की संगठित शक्ति को चेतना का विषय बना पाता है।

संस्कृति और कला के आन्दोलनों का परिचय इसी संदर्भ में होना चाहिये। क्लासिसिज्म, स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद के इतिहास-दर्शन की तुलनात्मक मीमासा से मूल्य-परिवर्तन की दृष्टि साफ हो जाती है। शास्त्रवाद की ऐतिहासिक भूमिका मे राजा और दरबार के शक्तिमान वैभवों का चित्रण मिलता है। राजा के पास दैवीय अधिकार थे अतः उसका चित्र दिव्य रूप में तथा दरबारियों के पास शाही अधिकार थे अत उनका चित्रण भव्य रूप में होता है समूचे क्लासिसिज्म में                ऐश्वर्य

विलास की झाँकी मिलती है। लेकिन परवर्ती क्लासिसिज्म कुछ भिन्न प्रकार का है। उसमें रिनासा का विवेक भी है। इसीलिये उसमें ग्रीक और रोम की संस्कृति का अभिनवीकरण होता है, मात्र अनुकरण नहीं। नवशास्त्रवाद अरस्तुवाद का नया संस्करण भर नहीं है बल्कि अरस्तु की विचारधारा का बदले हुये परिवेश में पुनर्मूल्यांकन है। परवर्ती क्लासिक्स में चर्च और राज्य के अन्तर्विरोधों का, शाही और सामंती अन्तर्विरोधों का, व्यवस्था के आदर्शों तथा जन यथार्थ के अन्तर्विरोधों का चित्रण होता है। चूंकि शास्त्रवाद परम्परावाद में परिवर्तन के औचित्य की अवहेलना की जाती है इसलिये उसकी सृजनशक्ति शिथिल हो जाती है, धीरे-धीरे रूपात्मक प्रदर्शन का विषय बन जाती है, तरह तरह के सैंसरशिप प्राथमिक होने लगते हैं, उसमें गति नहीं रह जाती है। शास्त्रवाद युग और इतिहास की गत्यात्मक प्रवृत्तियों पर बन्धन लगाता है। स्वतन्त्रता वर्जित जीवन दर्शन को आरोपित करता है। शास्त्रवाद में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को गौण बना देता है वह वर्गीय अभिजात्य के लक्षणों से अलंकृत हो जाता है। उसमें व्यक्तित्व की जगह "पद और पदवी" के आभूषण लग जाते हैं। जो व्यवस्था, संयम और शिष्टाचरण के कृत्रिम अनुशासन में ही फ़बते हैं। इस तरह जो शास्त्रवाद ऊर्जा विहीन रूपवाद बनकर रह जाता है वह युग से असम्पृक्त होता है, तटस्थ होता है। अपने वर्गीय हितों की राजनीति करते हुये समूचे समाज और राष्ट्र की राजनीति के प्रति बेखबर होता है। कुल मिलाकर शास्त्रीय आभिजात्यवाद अथवा रूपवादी-परम्परावाद इतिहास के वस्तुवादी नियमों की दृष्टि से निषेध के जीवन दर्शन पर आधारित होता है। उसकी इथिक्स तथा उसकी लाजिक में निषेध तो लचीले हो सकते हैं, लेकिन ग्रहण शक्तियां हमेशा संकुचित रहती हैं।

शास्त्रीय आभिजात्यवाद को निर्वैयक्तिकता का संदर्भ दिया जाता है। लेकिन ध्यान इस बात पर रहना चाहिये कि शास्त्रवाद की निर्वैयक्तिकता और ऐतिहासिक भौतिकवाद की वस्तुनिष्ठा अलग-अलग चीजें हैं। जीवन के निरन्तर विकासमान और गतिमान पहलुओं का निषेध करने वाला रूप दर्शन जिस भावकल्प को प्रदर्शित करेगा उसमें युग और परिवेश के द्वारा अर्जित व्यक्तित्व की संभावनायें नहीं होंगी। उसमे निरन्तर समृद्ध होते हुये आगामी समय तक जीने की आकांक्षा नहीं होगी। अत: रूपवादी-वस्तुवाद और निर्वैयक्तिकता व्यवस्था-धर्म के स्वीकार के अतिरिक्त कुछ नही होती। शास्त्रवाद में निर्वैयक्तिक होने की या वस्तुपरक होने की जो चर्चायें की जाती हैं वे विशिष्ट वर्गीय प्रतिमानों के सरलीकरणों से अधिक महत्व नहीं रखती। अतः यथार्थवादी वस्तुनिष्ठता और शास्त्रवादी निर्वैयक्तिकता में भ्रमित नहीं होना चाहिये। यह भ्रम एफ० एच० ब्रैडले और टी० एस० इलियट ने फैलाया है। इसी कोटि में हमारा चिरपरिचित तादात्म्यीकरण भी है—तादात्म्यीकरण भी हमेशा सर्व चेतस होता है वह और मनोगत होता है यथार्थवादी वस्तुवाद

में उक्त प्रकार के तादात्म्यीकरण का कोई स्थान नहीं हो सकता। वस्तुपरकता के आधार अपने युग के सामाजिक-सांस्कृतिक विवेक से संचालित होते है। व्याख्यात्मक, सूचनात्मक और प्रदर्शनात्मक नहीं होते, उसमें विश्लेषण का तर्क तथा मूल्यांकन के ठोस सिद्धान्त होते हैं ? विश्लेषण का अर्थ ही अन्तर्विरोधों की खोज तथा उनके समाधान से होता है। यहाँ वर्गचेतस-तादात्मीकरण या निर्वैयक्तिकता का कोई मनोगत और आत्मगत आधार नहीं होता।

क्लासिसिज्म और स्वच्छन्दतावाद में ऊपरी ढाँचे का, संरचनात्मक ढाँचे का भेद होते हुये भी तत्वतः संगति होती है। दोनों में लगभग समान गुण धर्म वाले मानवीय सारत्व की अभिव्यक्ति होती है। इसकी समझ तभी हो सकेगी जब ऐतिहासिक वस्तुवाद के परिप्रेक्ष्य में सामंतवाद से पूँजीवादी तक के युग को, सांस्कृतिक परिवर्तनो को विश्लेषित और मूल्यांकित किया जाए। औद्योगिक क्रान्ति और फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति ने मृतप्रायः सामन्तीयुग और नवोदित पूँजीवादी युग की चेतना को नया यथार्थ परिवेश दिया। औद्योगिक क्रान्ति ने बदले हुये भौतिक परिवेश को जनता के सामने नैतिक चुनौती के रूप में पेश किया तथा फ्रान्स की राज्य क्रान्ति ने उसी बदले हुये भौतिक परिवेश की स्वीकृति पर राजसत्ता की मोहर लगा दी। यहीं से अर्थशास्त्र और राजनीति के सामाजिक संदर्भ अभिन्न होने लगते हैं। राजनीत्यार्थिकी का विकास होने लगता है। औद्योगिक क्रान्ति और विज्ञान-तकनालाजी के विकास ने सामन्ती आभिजात्य को एक ही झटके में तोड़ दिया और राष्ट्रीय-पूँजीवादी के विकास के अनुरूप नये व्यक्तिवाद का जन्म हुआ। साथ ही फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता और भाई-चारे की क्रन्तिकारी दृष्टि दी जिससे लोकतन्त्रवाद, राष्ट्रीयवाद को बढावा मिला। अब शास्त्रीय दरबार की अपेक्षा बोनापार्टे के स्वच्छन्दतावाद मे अधिक शक्ति और आकर्षण था। नेपोलियन ने राष्ट्रीय पूंजी के राजनीतिक व्यक्तिवाद को बढ़ावा दिया।

फ्रान्स की राज्यक्रान्ति में रूसो का विशेष स्थान है। उसने नये अर्थशास्त्र को खूब समझा था तथा पूँजी के मूल्यों पर आधारित भविष्य के समाज पर विचार किया। उसने बुर्जुआ लोकतंत्र की हिमायत की और लोकप्रिय इच्छा को सामान्य-इच्छा कहा, जिसमें व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा मिली। यह नव अंकुरित पूँजी का प्रगतिशील मानवीय गुण था जिसने व्यक्ति स्वातंत्र्य और लोकतंत्र को महत्व दिया। मजेदार किन्तु गम्भीर तथ्य यह है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य और लोकतंत्रवाद का जन्म हुआ विज्ञान-तकनालाजी और औद्योगिक विकास के कारण, इस विकास के पीछे शक्ति है विवेक और भौतिकवाद की, लेकिन समाज के और राजसत्ता के स्तर पर उसे भाववादी ढंग से ग्रहण किया गया। पूँजी के राष्ट्रीय चरित्र का विकास हुआ, युद्ध हुये, उपनिवेश खोजे गये। फैलन लगा रूसो में बुर्जुआ लोकवाद के द्वारा अन्तर्विरोध

दिखाई देते हैं। 'सामाजिक प्राणी' और 'प्रकृति की ओर वापसी' का अन्तर्विरोध अतिरिक्त मूल्यों के वास्तविक चरित्र को न समझने के कारण पैदा हुआ है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति अपने युग तक के भौतिक विकास से उत्पन्न प्राचीन और मध्ययुगीन जीवन-दर्शन के विरुद्ध एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। वह नये उत्पादन-स्रोतों और नये उत्पादन-सम्बन्धों के कारण पैदा हुई थी। वह सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन की सशक्त सूचना थी। वह नये पूंजीवाद की प्रथम प्रतिक्रिया भी थी, लेकिन नये पूंजीवाद की भावी ताकत और संभावनाओं पर आश्वस्त भी थी। इसीलिये जनगण ने इसका स्वागत किया। इसे पश्चिमी दुनिया के इतिहास का प्रथम स्वच्छन्दतावादी अध्याय कहा जा सकता है। फ्रांस की क्रान्ति ने प्राचीन राजवंशी, चर्चधर्मी, खिसाधर्मी और सामंती व्यवस्था पर आक्रमण करके पूंजीवादी वैयक्तिकता को प्रतिष्ठा दी। उसी की समन्वित प्रतिक्रिया हमें स्वछन्दतावाद में दिखाई देती है।

स्वच्छन्दतावादी विचारदर्शन में 'पूंजी' के मानवीय गुण धर्म का महोच्चार होता है जो लोकजीवन से लेकर रहस्यवाद तक, लैसेस फैयरे के सिद्धान्त से लेकर फिक्टे के अहं प्रकाशन और हीगल के अखंड आत्मवाद तक संश्लिष्ट रूप में व्याप्त रहा है। जहाँ आभिजात्यवाद में व्यक्ति अपनी समस्त आन्तरिक और बाह्य विशेषताओं के सहित सम्मानीय उच्चवर्ग में रूपान्तरित और सरलीकृत होता है वहीं स्वच्छन्दता-वाद में एक समूचा वर्ग अपनी पूरी विशेषताओं सहित व्यक्ति में समाहित होने लगता है। नवअंकुरित पूंजी के विकासमान सामाजिक चरित्र ने व्यक्ति में नया उत्साह और उल्लास पैदा किया। इसीलिये स्वच्छन्दतावाद का व्यक्ति पूंजी के माहात्म्य-बोध से निर्मित होता है, उसमें व्यक्तिवादी दर्शन की स्फूर्ति होती है।

एक ओर औद्योगिक क्षेत्र में नई-नई तकनालाजी का जन्म हो रहा था, उत्पादन और उपभोग का आचरण बदल रहा था तो दूसरी ओर बाजार की खोज में उपनिवेशों की स्थापना हो रही थी तीसरी ओर साम्राज्यवादी विजयों के उल्लास में राष्ट्रीय अहं का प्रकाशन हो रहा था। ऐसे वातावरण में पश्चिम को एशिया और अफ्रीका में फैलने का अवसर मिलता है—उसमें साहस था, नूतन विवेक था। वे नई संस्कृति के सैलानियों की तरह उन्मुक्त होकर विचरण करने लगे। इस तरह स्वच्छन्दतावादी जीवन दर्शन में एक ओर "अतिरिक्त-मूल्यों" की निरंकुशता मिलती है तो दूसरी ओर इस निरकुशता के विरोध की प्रतिक्रिया भी दिखाई देती है। अंग्रेज कवि शेली में प्लेटोनिक विचार के साथ ही विद्रोह की चेतना दिखाई देती है। जर्मन कवि गेटे में भी व्यक्ति-शक्ति-पूजा का आदर्श तथा अनेक प्रतिकूल स्थितियों को देखा जा सकता है।

स्वच्छन्दतावादी जीवन दर्शन का मूल्यांकन इतिहास के परिपेक्ष्य में हुआ ही नहीं है। हेज ने अपने इतिहास में इसके ऐतिहासिक विकास की परिस्थितियों को स्पष्ट किया है तथा और के संदर्भ में इसकी प्रवृत्तियों

का उल्लेख किया है। स्वच्छन्दतावाद की अन्तर्वस्तु को देखने समझने के लिये मध्ययुग और चर्च के नीतिपरक आदर्शवाद, रिनासा युग के बुद्धिपरक मानवतावाद तथा सत्रहवीं-अठारहवीं शती के औद्योगिक-क्रान्तिवाद की भौतिकवादी-विचारधारा को उसके ऐतिहासिक विकास के क्रम में देखना होगा। उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध तक जिस नये मनुष्य की रचना हुई उसके संघर्ष का, उसके संयोजक-तत्वों का द्वन्द्वात्मक आधार पकड़ना होगा।

साहित्य-समीक्षक तो इतिहास की सच्चाई को महत्व ही नहीं देते। वे शास्त्र-वाद और स्वच्छन्दतावाद का भेद निरूपण सतही ढंग से करते हैं। बेचारे शब्दो मे उलझते और उलझाते हैं। मोटे रूप से परिवेशगत संदर्भों की भिन्नता बताकर आगे बढ़ जाते हैं। इनकी परिवेश-सम्बन्धी धारणा भी यांत्रिक सी होती है और संदर्भ-रचना के कारणों तक नहीं पहुँच पाते हैं। इसीलिये वे संवेद्य-वस्तु की प्रकृति और उसकी शिल्प, शैलीगत भिन्नता को दर्शाते है। वे रचना वस्तु में बहिर्मुखी विस्तार और अन्तर्मुखी-व्यंजना का भेद समझाते है, अभिधा-सौष्ठव और व्यंजना-व्यापार के भेद बताते हैं—छंद और लय की स्वर संगतियों पर मुग्ध होते हैं तथा हरडर, फ़िक्टे, श्लेगल और हीगल के वशीभूत होकर ज्ञानातीत के आनन्दवादी संसार को श्रेयस्कर बताते हैं। कुछ नये समीक्षकों ने फ्रायड और जुंग के मनोविश्लेषणवादी मार्ग से स्वच्छन्दतावाद की व्याख्या की है तथा कुछ अस्तित्ववादी ढंग से विचार करते है। इन साहित्य समीक्षकों को नहीं मालूम कि मनुष्य की संस्कृति के सृजनशील कारक कौन से होते हैं? उनमें गति कहाँ से आती है? वे किस प्रेरणा से संचरित होते हैं? और किस उद्देश्य की ओर प्रेरित और उन्मुख होते हैं? डार्विन और फ्रायड में उक्त प्रश्नो का उत्तर नहीं मिलेगा। "प्राणिशास्त्रीय मैटाबालिज्म" में तथा "काम-ग्रन्थि" में उक्त प्रश्नों का निषेध ही दिखाई देगा। ये दोनों ही मनुष्य को गैर-मानवीय दृष्टिकोणों तक पहुँचाने में सहायता करते हैं।

इतिहास का परिप्रेक्ष्य ही स्पष्ट करता है कि औद्योगिक-क्रांति और फ्रांस की राजनीत्यार्थिकी की क्रांति ने जिस पूंजीवादी गुणधर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को अन्ततः विजयी बनाया और नये किस्म की राष्ट्रीय भावना जगायी, जिसका ऐतिहासिक विकास, बाद में सामाजिक लोकतंत्रवाद में हुआ, वह सब कुछ स्वच्छन्दतावादी इथिक्स का विषय है। यहीं पर प्रगतिशील स्वच्छन्दतावाद या क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद दिखाई देता है। उसी स्वच्छन्दतावाद का विकास बीसवीं शताब्दी में "अनुभववाद", "प्रत्यक्ष-प्रमाणवाद" तथा "प्रैग्मैटिज्म" में होता है। तीनों ही विचार-पद्धतियाँ आत्मवादी हैं—तीनों की बुनियादें व्यक्तिवादी विचारदर्शन में हैं। हम जानते हैं कि व्यक्ति-सत्य की अभिव्यक्ति आत्मपूर्ण इकाई में होती है, ऐसी हालत में ही वह सघन और संश्लिष्ट भी हो पाती है।

लेकिन जैसे-जैसे आत्मतत्व शिथिलाने लगता है वैसे-वैसे रूप-सौष्ठव उकसने लगता है और कल्पना में अलंकार समाने लगता है। चूँकि साहित्य में मानवजीवन ही सप्रेषित और अभिव्यंजित होता है, साहित्यकार हमेशा मानव के 'भावकल्पों' को गढता है, यह कार्य हर हालत में दृश्यत्व और रूपतत्व के आधीन होता है। प्रश्न है वर्ग-विभक्त समाज में, अतिरिक्त मूल्यों के जीवन दर्शन में किस तरह का दृश्यतत्व और किस तरह का रूपतत्व मिलता है ? बड़े से बड़े साहित्यकार के मानवतावादी सिद्धांतों और आदर्शों में इस वर्ग-विभक्त यथार्थ की चेतना इतनी संश्लिष्ट होती है कि उसके प्रेरकों से लेकर परिणति तक विशिष्टवर्ग की ही नीति रीति तथा उसी की रौनक़ और शान की अभिव्यक्ति हो पाती है। किस तरह के कथ्य को प्राथमिकता दी गयी है ? इससे रचना की प्राण प्रतिष्ठा का प्रश्न जुड़ा होता है, उसके प्रभाव-विस्तार का प्रश्न जुड़ा होता है। आनन्दवादी और लोक-प्रियतावादी कथ्यों में प्राथमिकता का प्रश्न ही नही उठता। कथ्य की प्राथमिकता से रचना में जीवन की अनिवार्यतायें बढ़ जाती हैं। यही से प्रतिबद्धता का सवाल उठता है।

अत: अतिरिक्त-मूल्यों के जीवन-दर्शन में आशवस्त रचनाकार व्यक्तिवाद का पोषक होता है। वह व्यक्तिवाद के आत्मप्रकाशन में कभी विद्रोह करता है—लफ़्फ़ाजी करता है, कभी प्रकृति-प्रांगण में पहुँच कर आत्मपरायेपन को दर्शाता है। वह परिवेश-मुक्त होने का नाटकीय अभिनय करता है। अतिरिक्त-मूल्यों वाले व्यक्तिवादी साहित्य में शास्त्रवाद और स्वच्छन्तावाद कुल मिलाकर अभिधाश्रित वस्तुवाद और व्यंजनाश्रित-आत्मवाद की दो शैलियों के अतिरिक्त कुछ नहीं होते। एक ही पात्र "राम" कभी वाल्मीकि में अपनी सत्यनिष्ठा, मर्यादा और विजयों के बल पर "मर्यादा-पुरुषोत्तम" बन जाता है तो वही "राम" कालीदास के रघुवंश में अपने पुरुषत्व के रूमानी आवेगो मे प्रकाशित करते हुए ऐश्वर्य का भोग करता है। वाल्मीकि का औचित्य और मैनरिज्म कालीदास में नहीं है। कालीदास में तो अहं की विभूति है, अहं का मांगल्य है। लेकिन वाल्मीकि के अभिधेयार्थ में तथा कालीदास के व्यंग्यार्थ में आर्यत्व, क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व का व्यष्टीयन होता है। दोनों की दो भिन्न शैलियाँ तो हैं लेकिन व्यष्टीयन की चेतना समान है। कालीदास की रचना-संस्कृति वाल्मीकि की अपेक्षा अधिक सघन और सश्लिष्ट है। कालीदास में भाषा का व्यजनाधर्मी, लक्षणाधर्मी आभिजात्य भी है तथा वस्तु का मनोगत स्वच्छन्दतावाद भी है। राजवंशी मनोभावों की शालीनता और उच्चमानता के साथ अहंमन्यता के परस्पर विरोधी चरित्र का निर्वाह कालीदास मे सफलतापूर्वक किया है। उच्च, उदात्त आध्यात्मिकता के साथ वैयक्तिक भोगवाद की उत्कट कामनाओं का प्रतिष्ठापन कालीदास ही कर पाये हैं, इस तरह वर्गबद्ध व्यक्ति के प्रभामंडल को रचना में अलंकृत करने वाला शास्त्रवाद तथा उसकी प्रकृत-सहजता को निर्मित करने वाला ही संस्कृति के नाम पर के नाम पर

कालीदास से लेकर जयशंकर प्रसाद तक दिखाई देता है। उसी का खद्योतसम प्रकाश अज्ञेय और भारती में मिलता है।

## अस्तित्ववाद और शैलीविज्ञान

आधुनिक युग में शास्त्रवाद की जगह शैलीविज्ञान ने ले ली है और स्वच्छन्दतावाद की जगह अस्तित्ववाद ने ले ली है। अन्तर यह है कि आधुनिक शैलीविज्ञान और अस्तित्ववाद में पूँजीवादी दुनिया की विकृति है, विसंगति है और ह्रासशील चेतना व्याप्त है। शैलीविज्ञान का कोई स्पष्टदर्शन नहीं है अतः वह एक तकनालाजी के रूप में प्रयुक्त हुआ है। शब्द और अर्थ के उत्कर्ष में, अपकर्ष में ऐतिहासिक भौतिकवाद की समझ न होने के कारण शैलीविज्ञान की तकनालाजिकल व्याख्यायें सामाजिक जीवन के संदर्भों से कटी होती हैं, जातिय गुण-धर्म की विशेषताओं से अछूती होती हैं। शब्द और उसमें निहित अर्थ के निरन्तर विकासमान रूप को सामाजिक जीवन के परिवर्तन की प्रक्रिया से समझा जा सकता है, जीवन से बाहर की प्रयोगशाला में उसकी चेतनशक्ति के आयामों को नहीं पकड़ा जा सकता। शैलीविज्ञान ने रचना संरचना को भाषिक अभ्यास का विषय बताकर, उसके अस्तित्व को कमजोर कर दिया है। दूसरी ओर उसकी जैविक-चेतना सम्पन्नता को अस्वीकार करके उसे यांत्रिक ढंग का बना दिया है, फलस्वरूप उसकी सार्थकता ही खटाई में पड़ गई है। चित्र, संगीत और वास्तुकलाओं में भी ज्यामितीय नियमों की खोज की गयी है। यह सब कुछ माध्यम की सामाजिकता को, उसकी ऐतिहासिक गति-चेतना को नष्ट करने के लिये हुआ है। साहित्य और कला ठूठ बनकर रह गयी हैं। शैलीविज्ञान ने रचनाकार की कल्पना-शक्ति को हीन बना दिया है। शैलीविज्ञान आधुनिक युग के आत्मपरायेपन का अभिशाप है जिसे हमारी भाषा को भोगना पड़ रहा है। शब्द और अर्थ की भावी पीढ़ियों को ही मृतप्राय: बना दिया गया है। शैलीविज्ञान व्यक्तिवादी साहित्य-दर्शन के ह्रास की चरमविकृति है—यह वह प्रदूषण है जिसने रचना की स्फूर्ति को, उसके बृहद् उद्देश्य को अगम्भीर बना दिया है।

विज्ञान और तकनालाजी के युग में प्राचीन, मध्ययुगीन और रिनासा युगीन मूल्यों की पुनर्स्थापना नहीं की जा सकती। अब किसी भी तरह के नये रिनासा की गुंजाइश नहीं है। पूँजीवादी दुनिया में आज मनुष्य की जिन्दगी का तकनालाइज़ेशन हो रहा है, मशीनी आटोमेशन से मनुष्य का महत्व कम होता जा रहा है। इसीलिये वह लघुता, निरर्थकता के बोध से पीड़ित है। यहाँ अमानवीयकरण की प्रक्रिया तेज है। ऐसा इसलिये हुआ है कि इन देशों में विज्ञान, तकनालाजी से समाज का शोषण किया जाता है। वहाँ विज्ञान और तकनालाजी एक सांस्कृतिक संस्था के रूप में विकसित नहीं हो सकी है। इसीलिये सारी सम्पन्नता और वैभव के बावजूद कोई वैज्ञानिक नज़रिया नहीं बन सका है। वहाँ के साहित्य में जीवन की संगति टूट चुकी है, वह वैयक्तिक

दुर्घटना के रूप में शेष रह गया है। दुर्घटना इसलिये कि वह संभावनाहीन है, दृष्टि-हीन है, यांत्रिक है, विडम्बनाओं से भरा है। क्षण और योग के निमित्त हो गया है।

अस्तित्ववादी नवस्वच्छन्दतावाद में रचना की तार्किक सार्थकता के लिये जो दलीलें दी गयी हैं उनमें व्यक्ति सत्य की या आत्मसत्य की बौद्धिक व्याख्या ही हो सकी है। अन्तश्चेतना के अज्ञात को प्रकाशित करने वाला अस्तित्ववादी नव-स्वच्छन्दवाद अपनी तत्वभूमि पर ही फिसल चुका है। जीवन निषेध के आत्मघाती फेरे में आ चुका है। अवचेतन-मन के स्वतः स्फूर्ति आवेगों में प्रकृति-इच्छाओं को विजयी घोषित करने वाले आधुनिक काव्य और कला के आन्दोलनों की नियति खराब हो चुकी है। अब प्रतीकों में, मिथकों में तथा अमूर्तनों में प्रक्षेपण करने वाले कौशल का जमाना लद गया है। अब अवचेतन की सृजन क्षमतायें क्षीण हो चुकी हैं—वह बीटल, हिप्पी और जाज़ संगीत की मुक्त उत्तेजक वृतियों तक सीमित रह गयी हैं। सृजनात्मक पुनसत्व जाता रहा है, पकड़ शिथिला गयी है। ऐसी हालत में रचना भी पूँजीवादी समाज की निर्जीव तकनीक बनकर रह गयी है। वह शैलीविज्ञान का विषय बनकर रह गयी है। इस तरह शैलीविज्ञान सार्थक और प्राणवान साहित्य की समीक्षा का आधार नहीं हो सकता। उसमें मानवीय सम्बन्धों की समीक्षा नहीं हो सकती। वह चेतना के विकास का मूल्यांकन नहीं कर सकता। इसीलिये अकविता-अकहानी का नाम सुनाई पड़ता है।

पिछले कुछ वर्षों से शैलीविज्ञान और काव्यशास्त्र, शैलीविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र पर विचार हुये हैं तथा शैलीवैज्ञानिक समीक्षा का विकास हुआ है। इसके अनेक स्कूल है। मार्क्सवादी कला समीक्षकों और सौन्दर्यशास्त्रियों ने भी शैलीविज्ञान और भाषाशास्त्र के द्वारा रचना की अन्तर्वस्तु को देखने परखने की कोशिशें की है। लेकिन मार्क्स-वादियों के द्वारा रचना संरचना को देखने का यह प्रयास भिन्न प्रकार का है। मार्क्स-वादी दृष्टि से शैलीविज्ञान और भाषाशास्त्र, 'सिद्धान्त प्रवर्ग'' तक सीमित नहीं रहता, और न ही उसमें ऐतिहासिक-सामाजिक विकास के नियमों की अवहेलना की जाती है। रचना में पाये जाने वाले कथ्य-विचार के निर्माण और विकास में जिस तरह के सामा-जिक सम्बन्धों से गुजरना पड़ता है, उनका आत्मगत प्रभाव कैसा होता है? चेतना के धरातल पर भौतिक और सामाजिक प्रसारणशीलता कैसी होती है? इसकी खोजबीन रचना के 'स्ट्रक्चर' और 'टैक्सचर' में की जाती है।

वास्तुकला की संरचना जिस तरह योजनाबद्ध होती है उसके भौतिक उपकरणों के संतुलित संयोजन की वैज्ञानिक समझ होती है, उसी तरह चित्रकला, काव्यकला के पदार्थ की वैज्ञानिक अर्थ में जानकारी माध्यम की वास्तविक समझ से हो सकती है। रंगरेखा से संतुलित डिजाइन बनाना तथा शब्दों के द्वारा जीवन की डिजाइन बनाना एक सा ही कार्य है। माध्यम के वैज्ञानिक अध्ययन से संवेद्य-पदार्थ की अमूर्त अराजकता

अनुभूति दशा को ऐतिहासिक वस्तुवाद की कसौटी पर कस दिया जाए तथा उसे मानव चेतना के रूपायन की बृहत और जटिल यथार्थताओं से सम्बद्ध कर दिया जाए तो समस्त मनोगत विश्व दृष्टियों का रंगोआब उतर जाएगा, वे जीवन-निषेध की प्रणाली या पद्धति भर रह जायेंगी।

इस तथ्य पर विचार नहीं हुआ है कि साहित्य और कला मानव-जीवन के अनुरूप निरन्तर पुष्ट और समृद्ध होती हुई संवेदना में अपनी उपयोगिता को सिद्ध करती है। संवेदन उपयोगिता के आधार युग और समाज के गतिशील जीवन से बनते हैं। जीवन्त रचना वर्तमान-निरपेक्ष नहीं हो सकती, वह तात्कालिक लगावों और सरोकारों से रहित नहीं हो सकती। मानव की सांस्कृतिक-क्रिया और चेष्टा किसी निश्चेष्ट सिद्धान्त या आदर्श में प्रकट नहीं होती, रचना पर कोरे सिद्धान्तों के लेबिल नही लगाये जा सकते। जो लोग सिद्धान्तों के लेबिल लगाते हैं उनकी कूटनीति को समझने के लिये संवेदन-व्यापार की ऐतिहासिक, सामाजिक स्थितियों को देखना पड़ेगा। इतिहास का परिप्रेक्ष्य ही रचना पर लगे लेबिलों को हटा सकता है उससे व्यक्ति के निरकुश और अराजक-निजीपन को हटा सकता है जिसे शुद्धतावादी और नीति के नाम से गौरवान्वित किया जाता है। विश्व दृष्टि वाली रचना संवेदना के समस्त उपकरण यथार्थ वादी होते हैं। उसमें समूचे समाज की जीवन दृष्टि का व्यष्टीयन होता है, भौतिक और वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों से आत्मगत चेतना का वरण होता है। यह वरण उड़नछू नहीं होता, चमत्कार पैदा करने वाला नहीं होता। रचना किसी संकुचित अर्थ में सुन्दर और आनन्द की सृष्टि नहीं करती। सुन्दर और आनन्द तो रचनायें निहित संस्कृति के अभिप्राय और हेतुओं को स्पष्ट करते हैं। इस तरह सुन्दर और आनन्द की सृष्टि में संस्कृति की शक्ति होती है—उसका सारतत्व होता है जो अपने ऐतिहासिक भौतिक परिवेश में निरन्तर बदलता रहता है। अतः अल्पमात्रिक जीवन के भावकल्प-वाली, क्षणो मे चमकने वाली रचना का उन्मेषन आकस्मिक उत्तेजनाओं जैसा होगा, वह अनुभव-उन्माद के रूप में होगा, ठोस और वास्तविक नहीं होगा। अन्तर्मुखी एकांत को व्यजित करने वाली रचना कभी भी जीवन के वास्तविक उन्नत पक्षों को नहीं छू सकती। जो चित्रकार न्यून को सूक्ष्म कहकर अल्प प्राण चेतना के धूप-छाँही परिवेश में सघनता और गहराई रचते हैं, उनकी रचना प्याज के छिलकों जैसी होती है। वस्तुहीनता मे शब्द के तम्बू गाड़ते हैं। रचना अपने संदर्भों से बनती है, संदर्भ के अभिप्राय होते हैं, अतः रचना कलावाद और शैलीवाद का विषय नहीं होती। वह संस्कृति का अनुमान, आभास और भ्रम नहीं होती वह अपने युग के सामाजिक जीवन का विषय होती है। रचनाकार अपनी कल्पना में उगते हुये चरित्र को समझता है, वह उसके गुणों को जानता है। रचनाकार हमेशा उगते हुये मूल्यबोध का ग्राहक होता है। मौलिकता का ससार का नहीं होता मौलिकता का विकास अभावो से नहीं

आज की पूंजीवादी दुनिया में मनोगत-तत्वादर्श और आत्मव्यष्टीयन अपनी समूची दार्शनिक और भौतिक विरासत के साथ (प्लेटो से लेकर कान्ट, हीगल और अस्तित्ववादी दार्शनिकों तथा डार्विन, फ्रायड से लेकर कीन्स, फ्रायडमान और गैलब्रेथ तक) आत्मपरायेपन की संस्कृति में फैल गया है। यह सत्य है कि आत्मपरायेपन के पैदायशी कारण सामाजिक और आर्थिक होते हैं, यथार्थवादी होते हैं लेकिन जीवन दर्शन मे उतर कर आत्मपरायेपन का आचरण अभौतिक सा हो जाता है, गेरुआ वस्त्रवाला तथा आशीर्वचन देने वाला हो जाता है। तो क्या समूचे भाववादी तत्वदर्शन की बुनियादों में यह विलगाव नहीं है? आखिरकार व्यक्तिवाद की रचना के लिये समाज से विलग होना जरूरी है—अतः विलगता की प्रक्रिया को उसके कारण को समझना होगा। मार्क्स ने अपनी पुस्तक "इकानामिक एन्ड फिलासिफिक मानस्क्रिप्ट" में इनकी विशद व्याख्या की है।

ऐतिहासिक वस्तुवाद की दृष्टि से यदि भाववादी तत्वदर्शन का मुआयना करे तो ज्ञात होगा कि मनुष्य की भूमिका को महत्व दिया ही नहीं गया है। भाववादी तत्वदर्शन हमेशा वर्तमान और सामाजिक चिन्ताओं से मुक्त होता है, असम्बद्ध होता है—मनुष्य किस तरह से अनन्त-बोधात्मक काल निरपेक्षता में जीने लगता है? क्या इतिहास में मनुष्य शून्यवत् हो सकता है? वह शुद्ध दशा, तटस्थ और निःस्वार्थ दशा की कल्पित कक्षाओं में पहुँच सकता है?

फायरबाख पर विचार करते हुये कार्ल मार्क्स ने कहा है "अभी तक वास्तविकता (Reality) और ऐन्द्रियता (Sensousness) को केवल विषय (Object) और अनुध्यायन (Contemplation) तक कल्पित किया गया है। मानव की ऐन्द्रिय क्रिया और व्यवहार (Sensous Activity & Practice) के रूप में नहीं। फल यह हुआ कि क्रियाशीलता का पक्ष भौतिकवाद के विपरीत भाववाद द्वारा विकसित किया गया—केवल अमूर्त रूप में—भाववाद वास्तविक ऐन्द्रिय क्रियाओं से सर्वथा अपरिचित होता है। फायरबाख मानव-क्रियाओं को वस्तुनिष्ठ-क्रिया के रूप में नहीं देखते। फलस्वरूप वह व्यावहारिक आलोनात्मक कार्यशीलता के महत्व को नहीं आँक पाते।" कार्ल मार्क्स ने आगे कहा है—"क्रिया और व्यवहार से ही मनुष्य अपनी सत्यता और वास्तविकता को प्रमाणित करता है" उसी के तहत मनुष्य अपनी परिस्थितियों को बदलता है, अपने व्यक्तित्व को अर्जित करता है। सब कुछ सहेतुक और प्रयोजनयुक्त होता है। यह सब कुछ मनुष्य के क्रान्तिकारी आचरण में ही संभव होता है। इसी तर्क से मार्क्स ने स्थापित किया है "मानवीय सारतत्व कोई अपकर्षित या अमूर्ततत्व नही है जो प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित हो, अपनी यथार्थता में वह सामाजिक सम्बन्धो का साकल्य है।"

(H e is not abstraction inherent in each

भौतिकवादी नियमों से होता है, उसमें भौतिक गुणों की सम्पदा रहती है। वह विचारधारात्मक अनुशासन से मर्यादित होता है। लेकिन रूपवादी-सौष्ठववादी वस्तु-परकता या तो आत्मसम्बोधित होती है या फिर तकनीक के रूप में सह-सम्बद्धता के यांत्रिक नियमों के अनुरूप होती है। उसमें सह-सम्बद्धता के भौतिक या वस्तुनिष्ठ आधार क्षीण होते हैं। उसमें व्यक्तिवादी, मनोवादी जीवन के ऊहापोहों की सहसम्बद्धता होती है। इलियट की वस्तुपरक-सह-सम्बद्धना और अर्थ-की लय के आधार रूपवादी हैं। उसमें अन्तश्चेतना के स्तर तटस्थ हैं, इसीलिये कैथालिक आदर्शवाद में फिसल जाते हैं। मूल संकट से बचने का, आधुनिक तनावों से मुक्त रहने का एक नया दिलासा इलियट ने रचा है—जो असंगत तो है ही, निहायत फूहड़ और पिछड़ा हुआ भी है।

महात्मा बुद्ध बनने का पोज़ देनेवाले रचनाकार यह क्यों भूल जाते हैं कि उनके द्वारा रचित पात्रों में इतनी विसंगति है कि अपनी अतृप्ति और कुंठा के कारण वे फासीवादी मनोभावों को प्रकट करने लगते हैं—नीत्शे का रचना दर्शन भयानक और खतरनाक है—उसमें हिटलर के ग्रह-नक्षत्रों का योग बनता है। काफ्का की दुनिया में ठोस और प्रत्यक्ष आचरण करने वाला मनुष्य गैरहाजिर है। पश्चिमी दुनिया में व्यक्ति अपने समाज में विरुद्ध गदर मचाने लगा है, उत्पात फैलाने लगा है। पश्चिम अपनी व्यक्तिवादी विरासत के साथ ध्वस्त हो रहा है, उसमें हठवादिता और अहंकार पैदा हो गया है। विकल्प के रूप में समाजवादी-यथार्थवाद को अपनाना नहीं चाहता है।

हिन्दी में मुक्तिबोध ने जिस ज्ञानात्मक-संवेदन के प्रश्न को उठाया है वह वास्तव में सृजन-कल्पना के इन्द्रिय-संवेदनात्मक व्यापार और प्रत्यक्षीकरण व्यापार तक सीमित नहीं है। बल्कि वह विचारधारात्मक कर्म तक व्याप्त है, जिससे सृजनधर्म दायित्वपूर्ण बनता है और उसका कथ्य ठोस रूप में प्रकाशित होता है। संवेदना के ज्ञानात्मक होने से ही कुछ नहीं बनता बल्कि ज्ञानात्मक कर्म में प्रवृत्ति जगाने वाली संवेदना ही सार्थक हो पाती है, वस्तुनिष्ठ हो पाती है। इस तरह की वस्तुनिष्ठता से रचना में विचारधारात्मक संयम आता है। रचना में वस्तुनिष्ठता कथ्यगत होती है और समूची आकृति को संयमित, व्यवस्थित रखती है। कुछ कलाकार फैंसी के बलपर, इन्द्रियाल्लास और उत्तेजना के बल पर कल्पना के घोड़े दौड़ाते हैं—ऐसे कलाकार ही वस्तुनिष्ठ मानव-चेतना के क्षेत्र में घुसपैठ करते हैं, हस्तक्षेप करते हैं। उनके शब्द, उनके वाक्य और पद एक दूसरे के साथ दुश्मनी का व्यवहार करते हैं। रचना उत्तेजित क्षणों में फेंके गये पत्थर की तरह नहीं होती, और न वह टूटे हुये काँच के टुकडों के कथ्यवाली होती है। यदि ऐसा है तो उसमें श्रीकाँत वर्मा होंगे—अकवि होंगे पंक्ति-पंक्ति—परिच्छेद-परिच्छेद में दरारें होगीं। वे बारुदी होंगी। रचना के कथ्य को उड़ाने में कामयाबी का दम्भ भरने वाली होंगी उनम

होगी। उनमें किसी भी तरह का मूल्यबोध हारा हुआ होगा, उनका युगबोध अधा होगा। उसमें अश्वत्थामा होगा। मूल्यरिक्तता और' मूल्य संकट की झूठी सूचना देने वाली और रक्त हीनता से पीड़ित होगी। अवसर पाते "कनुप्रिया" के राग-रस मे झुमा देंगी। कुछ रचनाकार हैं जिन्होंने अपनी कल्पना से कामग्रन्थि का उपचार कराया है और बाद में "सन्नाटा बुनने" लगे हैं।

मुक्ति बोध ने ज्ञानात्मक संवेदन के सिद्धान्त से बहुतेरे समकालीनों के मुँह पर कालिख पोत दी है। मुक्ति बोध रचना को सांस्कृतिक-संघर्ष में हिस्सेदारी का निर्वाह करने वाला कर्म मानते हैं। वे उसमें विचारधारात्मक क्रियाशीलता से उपलब्ध होने वाले मानवीय सारतत्व की निरन्तर समृद्धि को आवश्यक मानते हैं। इसीलिये रचना में मुक्तिबोध आत्मसंघर्ष करते हैं—विचारधारात्मक क्रान्ति के मार्ग को प्रशस्त करते है। रचना में वे सक्रियरूप से सम्बद्ध और प्रतिबद्ध होते हैं—क्योंकि वह एक दायित्वपूर्ण क्रिया कलाप है।

## साहित्य में चरित्ररचना के वस्तुवादी-नियमों से आशय

"पात्र" रचना के मानवीय तत्व होते हैं। रचना के पात्रों से उसकी कल्पना तथा प्रयोग-विधि का मूलचरित्र स्पष्ट हो जाता है। पात्रों से रचना में निहित जीवन तत्वों के उद्भावकों से लेकर निष्पत्ति की कथ्य-यात्रा स्पष्ट हो जाती है और रचना का यथार्थ समझ में आ जाता है। रचना में पात्रसृष्टि की अनेक शैलियाँ होती हैं। हर युग का रचनाकार मानवीय-तत्व का निरूपण नई-नई शैलियों और विधाओं में करता है। इस जीवन तत्व को मूर्तित करने वाली शैली और विधा का भी चेतना-सम्पन्न अभि-व्यजना-परिवेश होता है। सजग रचनाकार अपने युग के चेतन अभिव्यंजना-परिवेश को जानता है तथा जीवनतत्व की विकासमान अवस्थाओं को पहचानता है। तदनुरूप वह अपने युग की बृहत और जटिल रेखायें खींचता है। लेकिन रचना में जीवन तत्व की अभिव्यक्ति और पात्रों की सृष्टि स्वात्म-व्यंजक-शैली में भी होती है। यह जरूरी नही कि स्वात्म-व्यंजक शैली में पाया जाने वाला मानवीयतत्व बिरल ही हो, उसकी स्रोतस्विनियों के जलकुंड भरे पुरे न हों। स्वात्म-व्यंजक और अन्तर्मुखी व्यक्ति-निष्ठ जीवन को प्रतीकों में व्यंजित करने वाली रचना अल्परक्तवाली, अल्पप्राणवाली तभी होती है जब उसके सामाजिक-ऐतिहासिक स्रोत सूख गये हों। क्योंकि ऐतिहासिक-सामाजिक सम्बन्ध सूत्रों से निर्मित होने वाली अनुभूति के हर आयाम 'स्पष्ट और ज्ञात होंगे और ऐसी स्वात्म-व्यंजकता भी अर्जित सत्य के रूप में होगी, अनिवार्य स्थिति को व्यक्त करने वाली होगी। वह रहस्योन्मुखी या शून्योन्मुखी नहीं होगी, उसमे चेतना के कुंडली चक्र नहीं बन सकेंगे। वह अवचेतन गर्भ की आकस्मिक और उन्माद-ग्रस्त सृष्टि नहीं होगी।

चूंकि मनुष्य की चेतना का निर्माण और विकास प्राकृतिक अवस्था में नहीं

होता, ऐतिहासिक-भौतिकवादी परिवेश में होता है। मानवीय व्यवस्था के अन्तर्गत होता है इसीलिये मानवीय जीवन तत्व को व्यंजित और प्रोषित करने वाली रचना के तन्तु-तन्तु में इतिहास और समाज की समय और स्थान सापेक्ष यथार्थ स्थितियाँ व्याप्त होती हैं। जो लोग सामाजिक बन्धनों से मुक्ति का अर्थ मानवीय व्यवस्था के विरुद्ध प्राकृतिक अवस्था से लगाते है वे दूध पीने वाले बच्चे की अक्ल रखते हैं। सामाजिक बन्धनों से मुक्ति का आशय मनुष्य के उस चेतन-संघर्ष की मुक्ति से है जिसमें वह अपने परिवेश की जड़ता को तोड़ता है, व्यवस्था की अमानवीयता के विरुद्ध खड़ा होता है और गुलाम बनाने वाली परिस्थितियों से मुक्त होना चाहता है। यह स्वतन्त्रता जीवन-तत्व की मूल्य संभावना के रूप में रहती है। यह स्वतन्त्रता क्रान्तिकारी सामाजिकता के रूप में होती है—उसमें मनुष्य के वास्तविक अस्तित्व की अहमियत होती है। और इस स्वतन्त्रता को संघर्ष के बाद ही हासिल किया जाता है। अतः कथ्यहीन लगने वाली स्वात्मव्यंजक रचना के जीवन तत्व में यह स्वतन्त्रता सक्रिय रूप में उपस्थित रह सकती है। ऐसी स्वतन्त्रता के भाव का पोषण करने वाली रचना चाहे प्रगीत हो या गीत, सक्रिय विश्वदृष्टि से प्रेरित होती है।

किसी भी प्रकार की रचना में मनुष्य यदि अपनी क्रियमान शक्ति के साथ उपस्थित होता है तो रचना के स्वभाव का परिचय मनुष्य के क्रियमान होने के उद्देश्य से मिल सकेगा। रचना उसी उद्देश्य में ढलती जायेगी। जिस रचना में अनुशासित उद्देश्य के मानवीय पैमाने नहीं होते वह रचना अवश्य ही मनुष्य से—जीवन से बाहर होती जायेगी। स्वात्म व्यंजकता का ऐसा पहलू खतरनाक होता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि रचना में मनुष्य की, उसके यथार्थ-जीवन की वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति इतिहास की गतिमान शक्ति को पहचाने बगैर नहीं हो सकती। इसी पहचान में रचना इतर तत्वों से बची रहती है। यूतोपिया बनने से बची रहती है और सस्ते खेल-तमाशे की वस्तु नहीं बन पाती।

इतिहास से ही रचना के नस्लवादी-चरित्र और मानववादी चरित्र का भेद मालूम होता है। रचनाकार कब नस्लवादी चरित्र को प्रेषित करता है वह आर्यत्व-द्राविडत्व और फिर हिन्दुत्व-मुसलमानत्व के जातीय वर्णों में कब प्रवेश करता है? नस्लवादी, जातिवादी, साम्प्रदायिक आधारों में मनुष्य की जिंदगी को क्योंकर विभक्त किया जाता है? इस नस्लवादी जातिवर्णवादी साम्प्रदायिक नुस्खे को, उसके नमूने को किस तरह मानवीय अर्थ में बदला जा सकता है? यह कार्य ऐतिहासिक भौतिकवाद के द्वारा ही संभव हो सकेगा। ऐतिहासिक भौतिकवाद से ही स्पष्ट होता है कि गुणात्मक परिवर्तन के लिए क्रान्तिवादी शक्तियों को संगठित करना होगा और उन्हें अपने युग तक की भौतिक-आर्थिक प्रगति को निर्धारित करना होगा। जो लोग मानव और मानवीय-दृष्टि को

इससे बाहर देखते हैं वे प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः नस्ल, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय के मनुष्य को देख पाते हैं या फिर अपने निजी सुख-दुःख में तल्लीन मानव को देख पाते हैं। ऐसे लोगों की निगाह में मानवीय-दृष्टि का कोई विचारधारात्मक आकार नहीं होता। वे मनुष्य का सम्बोधन आम-आदमी के, भीड़ के, साधारण मनुष्य के रूप में करते हैं। ऐसे लोगों को "आदमी" और "आदमियत" डार्विन और फ्रायड की विरासत मालूम पड़ती है। मनुष्य की असलियत उसकी जाति के, वर्ण के, गोत्र के परिचय से नहीं बल्कि वर्ग के परिचय से मिलती है। अतः इतिहास के संदर्भ में मनुष्य के विकसित होने का, उसके स्वतंत्र होने का संघर्ष सम्प्रदायगत नहीं होता, हर हालत में वर्गगत होता है। स्वतंत्रता की लड़ाई चाहे अर्थशास्त्र के शोषण की हो चाहे उच्चवर्गीय संस्कृति के शोषण की हो—इतिहास के वैज्ञानिक नियमों के परिचय से हमेशा जीती जा सकती है। अतः रचना किस तरह के मनुष्य की है? किस उद्देश्य से प्रेरित है यह खोज हमेशा प्राथमिक होगी? मानववाद और मानवतावाद की पूजा करने वाले, अलाप लगाने वाले कौन लोग हैं? किस तरह के मनुष्य हैं? अर्थात् उनका वर्ग-चरित्र क्या है? यह समझना जरूरी है।

मानववादी रचनाकार को वर्ग-संघर्ष की आवश्यकता होती है, उसी के आधार पर वह विसंगतियों, विडम्बनाओं और निहित अन्तर्विरोधों को सामने ला सकेगा। मानववादी रचनाकार यथार्थवादी होता है। हरिशंकर परसाई की रचनाओं में वर्ग-चरित की समझ मिलती है। परसाई के लेखन में वर्ग विभक्त समाज में जीने वाले मनुष्य की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। जीवन की विडम्बनाओं का खुलासा करते हुये वे नियति और अस्मिता पर व्यंग्य करते हैं। समाज के अन्तर्विरोधों की गहरी समझ है—परसाई की। स्वतन्त्रता की लड़ाई कौन लड़ना चाहता है? उसकी तैयारी कितनी है? उसकी शक्ति के स्रोत कितने व्यापक हैं? तथा स्वतन्त्रता की लड़ाई किससे लड़ी जाती है? वह कौन व्यक्ति है? कौन सी व्यवस्था है? कौन सी संस्कृति है? कौन सी विचार दृष्टि है? यह समझ वर्ग-संघर्ष की है—इसका सम्बन्ध दूर-दूर तक जाति, वर्ण से नहीं हो सकता है। अतः मानववादी रचनाकार मनुष्य की यथार्थ स्थिति के उन आर्थिक पहलुओं को जानता है जिनमें वह कैद है और उनसे बाहर आने को छटपटा रहा है। मार्क्स-वाद ने इसी तरह के बन्धनों से मुक्ति दिलाने का, स्वतन्त्रता को अर्जित करने का वैज्ञानिक विचार दिया है। अतः किसी भी तरह के सार्थक और उपयोगी सृजन में मार्क्सवाद की वैज्ञानिक निष्पत्तियों से हटकर कार्य नहीं किया जा सकता। मार्क्सवाद कोई हठी मतवाद नहीं है, उसमें पूर्वाग्रहों को जगह नहीं है, उसे इतिहास की कसौटी पर सही पाया गया है। वह एक वैज्ञानिक दर्शन है। जीवन की सृजन-क्षमताओं के सभी मार्ग उस तक पहुँचते हैं। उसके बगैर कोई दूसरा विकल्प नहीं है सिवाय इसके कि शुतर्मुर्गी जीवन-दर्शन को अपनाकर सिर और गर्दन छिपाकर बैठ जावें

नये रचनाकार को मानव-अस्तित्व की यथार्थ समझ पैदा करनी होगी' उसे मनुष्य की यथार्थ आवश्यकताओं को समझना होगा। क्योंकि अस्तित्व और आवश्यकता के सम्बन्ध को तोड़ा नहीं जा सकता। और तभी रचनाकार अपने नैतिक बल की कसौटी पर कच्चा या पक्का साबित हो सकेगा। क्योंकि आवश्यकता के दबाव से स्व-तन्त्रता की भावना प्रबल होती है। इन दोनों के द्वन्द्वात्मक संघर्ष से क्रान्तिकारी विचारधारा का जन्म होता है। रचनाकार कितना सम्बद्ध, कितना प्रतिबद्ध है, यहीं से उसकी रचना का चरित्र बनेगा। रचना में जैसे-जैसे मनुष्य की सामाजिक आवश्यकता यथार्थ रूप में उतरने लगती है, वैसे-वैसे रचना का विचार क्रियमान होने लगता है—आवश्यकता एक सामाजिक शक्ति के रूप में—विचारधारा के रूप में प्रकट होने लगती हैं। रचना में मनुष्य की आवश्यकताओं का संघर्ष ही स्वतन्त्रता के संघर्ष में रूपान्तरित हो जाता है और संश्लिष्ट होकर कथ्य-उद्देश्य को प्रतिपादित करता है, वह दीप्तवान हो जाता है। रचना के कथ्य का भौतिक-परिवेश ही उसमें पाये जाने वाले पात्रों के चिन्तन और कर्म में विशिष्ट सामाजिक और ऐतिहासिक परिदृश्य का रूप धारण कर लेता है। तभी उसके दृष्टान्त और संदर्भ निश्चित अर्थ को व्यक्त कर पाते हैं। रचना-कार इसी परिवेश में सम्भावित भविष्य के यथार्थ को लक्षित करता है।

रचना में चरित्र का विकास होता है। यह विकास उसकी ऐतिहासिक परि-स्थितियों के अनुरूप होता है। गोर्की की माँ के चरित्र-विकास की परिस्थितियाँ कितनी यथार्थ हैं। गोर्की ने 'माँ' में द्वन्द्वात्मक-वस्तुवाद से रूसी समाज के बदलते हुये संस्कार की क्रान्तिकारी उपलब्धियों का चित्र खींचा है। माँ के चरित्र में रूस का अतीत है जो वर्तमान से टकराकर धीरे-धीरे बदलता है। बदलने की प्रक्रिया अनुभववादी या मनोगत नहीं है, प्रत्यक्ष क्रियाकलापों की है। माँ किस तरह जनसंघर्षों से सम्बद्ध होती है—शिक्षा लेती है, अनुभव ग्रहण करती है और एक विचारधारा की साक्षात मूर्ति बन जाति है। माँ के चरित्र में पैदा होने वाला परिवर्तन समूचे रूसी समाज के परिवर्तन से सश्लिष्ट हो जाता है। रूसी समाज अपने जिन्दा रहने के लिए पुरातन आर्थिक सम्बन्धों से लड़ाई लड़ता है। विज्ञान और टेक्नालाजी के आर्थिक लाभ यदि पूरे समाज में वितरित नहीं हुये तो दरिद्रता की गति और मात्रा तेजी से बढ़ जायेगी। शोषण के कुप्रभाव और दुष्परिणाम शीघ्र ही चरम बिन्दु पर पहुँच जायेंगे। अतः विज्ञान और टेक्नालाजी पर व्यक्ति का किसी वर्ग का आधिपत्य नहीं होना चाहिए। उसे समूचे समाज का होना चाहिए। इसी उद्देश्य के लिए मार्क्स ने वैज्ञानिक समाजवाद की रचना की और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लेनिन के नेतृत्व में रूस की जनता ने वर्ग-संघर्ष किया और इसी संघर्ष की प्रक्रिया को गोर्की ने 'माँ' उपन्यास में स्पष्ट किया है। गोर्की ने स्पष्ट किया है कि आधार और ऊपरी ढाँचे के द्वन्द्वात्मक संघर्ष में प्रत्येक व्यक्ति हिस्सेदार हो जाता है, प्रतिबद्ध हो जाता है। ऐसी हालत मे कोई भी आदमी जो रोगी

खाता है, कपड़ा पहनता है—समाज में उठता-बैठता है—यदि पागल नहीं है तो परिवर्तन की प्रक्रिया में किसी एक का पक्षधर हो जाता है। गोर्की की 'माँ' प्रगतिशील विचार की पक्षधर हो जाती है—धीरे-धीरे पूरा समाज ही क्रान्तिकारी संघर्ष के अनुकूल हो जाता है। गोर्की ने मजदूरों में विचारधारात्मक संघर्ष के विकास की परिस्थितियों का यथार्थवादी चित्रांकन किया है। पूँजीवाद से समाजवाद की ओर बढ़ने के क्रम का जैसा कथ्य गोर्की की 'माँ' का है, वह एक ऐतिहासिक-आवश्यकता के कारण पैदा हुआ है। प्रेमचन्द का 'होरी' और उसका लड़का 'गोबर' अपनी ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप संघर्ष के प्रभाव बिन्दु बन जाते हैं। प्रेमचन्द के पास संघर्ष की वैज्ञानिक समझ नहीं थी, उनके रचना-संस्कार जिज्ञासा युग के थे, सामंती परिवेश के थे—फिर भी होरी जीवन संघर्ष की बुनियादें डाल देता है और गोबर भारत में नवोदित पूँजीवाद का मजदूर बन जाता है—यह कथा प्रेमचन्द के साथ रुक नहीं गई। आजादी के बाद के उपन्यासकारों ने किसानों और मजदूरों के संघर्ष को छोड़ नहीं दिया है।

हम भारतीयों को अपने अतीत पर बड़ा गर्व है, आत्मीय लगाव है। हमारी झोली या पिटारी में रत्न भरे पड़े है। लोहे को भी सोना बनाने वाला पारस पत्थर हमारे पास है। हमने अपने इतिहास में पाये जाने वाले पत्थरों को रत्नों में तथा लोहे को सोने में बदला है, खूब बदला है। मौका पड़ते ही आज भी बदल देते हैं। हमारे यहाँ धर्मशास्त्रों, नीतिशास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों से कोठे भरे हुये हैं। सांख्य है, वेदान्त है, योग और तंत्र है—इनके अलावा जैनियों और बौद्धों की विरासत है—मध्य युग तक आते-आते हमारी अतीत की विरासत में बढ़ोत्री होती है—ब्याज की दरें बढ़ती हैं, शैवों-शाक्तों-तांत्रिकों, वैष्णवों-निर्गुणियों, सन्तों के ब्याज-धन एकत्रित हो जाते हैं और समूचा समाज उस ब्याज धन के ही ऋणों को चुकाने में लग जाता है। मूलधन की स्मृति तो कुछेक जगद्गुरुओं और आचार्यों तक रह जाती है। हमारे पास बड़े-बड़े मनीषी कवि हैं। बाल्मीकि हैं, कालीदास हैं, तुलसीदास हैं, जयशंकर प्रसाद हैं—हमारे अतीत में कहीं कोई छेद नहीं है—इसीलिये हम भरे पुरे हैं। हमें दुःख नहीं व्यापता, क्योंकि उससे बचने का मंत्र न केवल बुद्ध भगवान ने दिया है बल्कि मध्ययुगीन भक्तों, सतो ने भी सूक्तियों में रटा दिया है। "रहने को घर नहीं है सारा जहाँ हमारा" हम त्यागी भी हैं—भोगवादी भी हैं—हमारी त्याग दृष्टि है कि दरिद्रता को भाग्य के नाम पर भुला देते हैं—हमारा भोगवाद है कि आज सत्तर करोड़ तक पहुँच रहे हैं। जाने दीजिये, कहानी बहुत बड़ी और पेचीदी है।

भारतीय संस्कृति के एक यशस्वी प्रतिमान "राम" के चरित्र विकास की ऐतिहासिक परिस्थितियों को पुनः देखने का प्रयास करेंगे। क्योंकि इस पात्र में भारतीय संस्कृति के, आर्य संस्कृति के विकासशील सूत्रों को पकड़ा जा सकता है। अनेक मनीषी कवियों के आकर्षण का विषय 'राम' रहे हैं। बाल्मीकि के राम में "त्याग" और

कालीदास के राम में 'भोग' की प्रधानता रही है। तुलसीदास के राम की रचना के आधार भिन्न प्रकार के हैं। आर्यों के समाजशास्त्र का पहला चिट्ठा हमें अथर्ववेद मे मिलता है तो दूसरा और अधिक जटिल चिट्ठा महाभारत में मिलता है। तीसरा चिट्ठा तुलसीकृत रामायण में मिलता है। हम देखते हैं कि जादू-माया-धर्म के त्रिकोण ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है। तीनों के मिश्रित योगदान से धार्मिक विधान बनते हैं, धर्मशास्त्र बनते हैं—कविता में तीनों की संगति मिलती है। अथर्ववेद में जादू है, धर्म और दर्शन है। महाभारत में जादुई शक्तियाँ हैं। मायावादी विचार हैं और गीता का दर्शन भी है। रामचरित मानस में जादुई, चमत्कारी फ़ैंसी है तथा नैतिक-धार्मिक-मर्यादा का आख्यान भी है। वास्तव में मायावादी-दृष्टि जादू और धर्म के जुड जाने से पैदा होती है। यह मायावाद दर्शन में जगत की सत्ता के विरुद्ध है, सर्वनकार की दृष्टि के ओत-प्रोत है तथा कविता में भाग्यवादी हीनता को उपजाता है। हमारी नैतिक मान्यताओं में, हमारे धर्म में इस मायावादी चिन्तन की गहरी छाप है इसीलिये जादू-टोने और अन्धविश्वासों के लिये भी स्थान सुरक्षित रहा है।

उक्त प्रकार के सांस्कृतिक परिवेश में हमारे मनीषी कवियों ने शाश्वत-सत्य की रसधारा प्रवाहित की है। यदि कविता की संस्कृति में राम के चरित्र-विकास को देखें तो परिवर्तन की प्रक्रिया का स्वरूप ज्ञात हो जाएगा। बाल्मीकि के राम आर्यत्व के व्यष्टीयन हैं। वे प्रकृति में श्रेष्ठ प्राणी मनुष्य की मर्यादा को बनाते हैं। उनके चरित्र मे आर्यों के प्रकृति-मार्ग से इतिहास और समाज के मार्ग तक की दूरियाँ मिलती हैं। वे प्रकृति-पुरुष से इतिहास-पुरुष बनने के दौर से गुजरते हैं। माईथालाजी ने उनके चरित्र को नुकसान कम पहुँचाया है। उनके आभिजात्य में प्रकृति के अहं का ऐश्वर्य है तथा प्रथम इतिहास-पुरुष की मर्यादा का आदर्श भी। जबकि तुलसीदास के राम का विकास अधिक जटिल और अन्तर्विरोधी सामाजिक सम्बन्धों के भीतर होता है। तुलसी-दास के राम में बाल्मीकि के राम का प्रकृति-पुरुष वाला हिस्सा दबा हुआ है। उनके अहं-ऐश्वर्य का पहलू गौड़ है। तुलसी के राम की रचना में माईथालाजी का विशेष योगदान रहा है। तुलसी ने अपने राम को इतिहास से ऊपर मिथकीय विशेषताओ मे ढाल दिया है।

बाल्मीकि और तुलसीदास के राम की मर्यादाओं में बहुत बड़े युग का अन्तराल है। तुलसी के राम में शील और शालीनता के जो गुण हैं वे वर्ण-विभक्त समाज और राजवंशी आचार-व्यवहार की लम्बी इतिहास यात्रा के बाद निर्मित हुये हैं। तुलसी के राम में मध्य युग तक के हिन्दुत्व का व्यष्टीयन होता है। उनके विकास को नियमित करने वाले संदर्भ और दृष्टान्त वैष्णवी-मर्यादावाद से बने हैं। तुलसीदास के राम मे बाल्मीकि के राम जैसा स्वच्छन्दतावादी ओज और शौर्य नहीं है। तुलसी के राम का चरित्र आवेश-निरोधक है। वे लोकपाल हैं। वे पूर्व-निर्धारणाओं से रचित हैं। उन्हे ग्रन्थों से निचोड़कर निकाला गया है

वही राम आधुनिक युग के पुनरुत्थानवाद में मैथिलीशरण गुप्त की काव्य प्रतिभा मे स्थान पाते हैं। गुप्त जी के राम में मध्यकालीन भव्यता और दिव्यता घटती नजर आती है। वे मनुष्य के दर्जे पर उतरते नजर आते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के रिनासा युग में राम एकदम भिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों को प्रेषित करना चाहते है। यहाँ प्रतिपादन की समस्या और उसका उद्देश्य भिन्न प्रकार का है। उनके "मानव होने" की तथा ईश्वरत्व पर प्रश्न-चिन्ह लग जाने की स्थिति पैदा हो गयी है। वे न तो बाल्मीकि के प्रकृति-पुरुष रह जाते हैं, न तुलसीदास के माईथालाजिकल विधाता और भगवान रह जाते हैं। यहाँ उनके चरित्र का बौद्धिक पुनर्मूल्यांकन होता है।

प्राचीन वैभव की स्मृति में राम "भगवान" रहे है किन्तु वर्तमान युग के व्यवहार में वे 'राष्ट्रनायक' के गुणों से सम्पन्न हो गये हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने उन्हे प्रासंगिक बनाने की कोशिश की है। उन्हें बदले हुये राजनीतिक-सामाजिक परिवेश मे चित्रित किया है। लेकिन पुनरुत्थान युग में मृतप्रायः सामन्तवाद और नवोदित पूँजीवाद के साथ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का पक्ष प्रबल था। पुनरुत्थान युग में इतिहास की स्मृति को जगाया गया, उसके पुरातन वैभव को याद किया गया। क्षत्रियत्व की, राजपूती वीर-भाव की आनबान को पुनः-पुनः प्रचारित किया गया। इस युग में राजपूती चरित्रो पर रचनायें लिखी गयी। आर्यत्व और हिन्दुत्व की बौद्धिक व्याख्यायें की गयीं।

राष्ट्र की आजादी के बाद पुनरुत्थानवादी मनोभाव क्षीण होता गया। उद्योग, विज्ञान, तकनालाजी के विकास का अध्याय शुरू हुआ। भौतिक, आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तन हुआ। नई समृद्धि ने सभी को आकर्षित किया। रिनासा युग के भाववाद और आदर्शवाद का असर क्षीण होने लगा। मैथिलीशरण गुप्त के बाद राम का एक और नया संस्करण हुआ—भारत भूषण अग्रवाल ने "अग्निलीक" में राम को सीता के जीवन के यथार्थवाद के सम्मुख छोटा कर दिया है। भारतभूषण अग्रवाल ने रामत्व को अपदस्थ कर दिया है। राम ने जो मानवीय भूलें की हैं, उनका उत्तर दिया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि राम किसी भी रूप में वर्तमान युग के सन्दर्भों के लायक नही बन सकते। अब राजा-राम और सीता रानी का भविष्य किस्सागोई तक रह जाने वाला है। राम के नाम पर चिरपरिचित के अर्थहीन हो जाने का स्पष्ट संकेत भारत-भूषण अग्रवाल ने दिया है। अब राम की वापसी असम्भव है।

चरित्र सृष्टि की परिस्थिति-सापेक्ष भूमिका के छूटते ही रचना की प्रासंगिकता समाप्त होने लगती है। युग से अलग-थलग हुये एकान्तजीवी संवेदन में गुणात्मक आकर्षण विकासमान नहीं होता, ऐसी संवेदना मूल्यवान नहीं रह जाती है। मृत-विचारधारा में मध्यममार्गियों तथा औसत दर्जे के लोगों में अपना बचा-खुचा असर रखती है। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति इस तरह के विचारों से मुक्त होता है। वह मल्लित, दलित को लेकर आगे नहीं बढ़ सकता अतः राम और कृष्ण के साथ मध्ययुग तक के

माईथालाजिकल पात्रों और उनके रचना-दृष्टांतों को नये कलेवर में प्रस्तुत और प्रतिपादित करने का कोई लाभ नहीं होगा। यहाँ तक कि रिनासां कालीन राष्ट्र-भक्ति के आदर्शपात्रों की प्रासंगिकता समाप्त हो गयी है। पुनरुत्थानवादी मूल्यों में साम्प्रदायिक नस्ल-जाति-वर्ण-गत कमजोरियाँ पैदा हो गयी हैं जो 'पूँजी' के तथा पूंजीवादी उदार-प्रजातंत्र के चरित्र को पिछड़ाती है। विज्ञान, तकनालाजी की संस्कृति की परिणति चाहे पूँजीवाद में हुई हो या समाजवादी-यथार्थवाद में, पुनरुत्थानवादी मूल्य चेतना के एकदम विरुद्ध होती है। अब ब्रह्मचारियों की हनुमान-भक्ति, बनियों की गणेश और लक्ष्मी पूजा तथा वैष्णवों की राम-भक्ति और कृष्ण भक्ति का जमाना बहुत पीछे छूट गया है। दयानंद सरस्वती से लेकर रामकृष्ण, विवेकानन्द तक के जीवनादर्श मठों में मूर्तमान हो गये हैं। विज्ञान और तकनालाजी के आचरण तथा पुनरुत्थानवादियों के आचरण मे शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध हो गया है। नई वैज्ञानिक दृष्टि उस तमाम को छोड़कर ही रहेगी। धर्म-निरपेक्ष प्रजातंत्र और समाजवाद से नये सृजनात्मक परिवेश को गति मिलने लगी है। पुनरुत्थान युग में हिन्दुत्व, मुसलमानत्व का विचार राष्ट्रीय माना जाता था, आज वह एक सामाजिक बुराई बनकर रह गया है। पुनरुत्थान युग मे हिन्दुत्व क्रान्तिवादी-राष्ट्रवाद का द्योतक था, आज वह उन्माद का कारण बनकर रह गया है। विज्ञान और तकनालाजी ने तथा उपभोक्ता-संस्कृति ने जातिवर्ण, धर्म, संप्रदाय को काफी चोट पहुँचाई है।

जो हिन्दुत्व पुनरुत्थानवादी जीवनदर्शन का केन्द्रीय आदर्श था वही अब बदले हुये भौतिक-सामाजिक परिवेश में प्रजातंत्र की राजनीतिक-जलवायु में एक कमजोरी बन गया है। आज हिन्दुत्व की भाषा में बोलने वाला व्यक्ति और वर्ग अरचनात्मक हो गया है, समाज में और जनता में अपनी पहल खो चुका है। इसीलिये आश्रमों-मठो तथा स्वयंसेवकों की विचार-परम्परायें जीवन की मुख्यधारा से जुड़ी नहीं हैं। वे सभी इतिहास की गतिरोधक हो गयी हैं। उनकी गतिविधि से मध्ययुगीन लीला-प्रदर्शन और झाँकियों की स्मृति होती है। उन्नत जीवन चेतना के अभाव में मठवादी स्वयं-सेवी विचार अपने भाड़ेपन को, भद्देपन को ही दर्शाते हैं। प्रजातंत्र की माँग है कि स्वस्थ सामाजिक राजनीतिक-विवेक का विकास हो लेकिन इसके विपरीत मठवादी स्वयंसेवी अराजनीति को प्राथमिकता देते हैं। जो भी विचार जनता की राजनीति के विरुद्ध हो, उसकी परिणति हमेशा फासीवादी होती है। भारत में प्रजातंत्र की जड़ें बहुत गहरी नहीं हैं। जनता और प्रजातंत्र का सम्बन्ध अभी तक राजनीतिक नहीं हो पाया है। अत सभी प्रकारों की सृजन स्फूर्तियों में अब राजनीतिक प्रजातंत्र की संभावनाओं को लक्षित किया जाना चाहिये।

आधुनिक हिन्दी रचना को देखकर समूचे भारत के सांस्कृतिक परिवर्तन तथा उसके विकास को समझा जा सकता है। जिस पुनरुत्थान-युग में मुग ने

'राम' में नव-राष्ट्रीय भावना भरी उसी युग में जयशंकर प्रसाद ने व्यक्तिवादी भोगवाद की संस्कृति को उद्घाटित करने वाले 'मनु' की सृष्टि की। पुनरुत्थानयुग की सामंतवादी प्रवृत्तियाँ समन्वित होकर मैथिलीशरण गुप्त की रचना-प्रतिभा में अतीत के वैभव को मूल्यांकित करती हैं। वहीं पुनरुत्थान युग में नवोदित पूंजीवाद स्वच्छन्दतावादी शैली मे व्यक्ति को प्रतिष्ठित करना चाहता है। 'मनु' आर्यत्व के व्यष्टीयन हैं। लेकिन प्रसाद के युग में राष्ट्रीय-पूंजीवाद सामंती उसूलों की मदद से स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रहा था। उसके जनवादी आधार कमजोर थे, अराजनीतिक थे। इसीलिये प्रसाद ने व्यक्ति की प्रभुता को औपनिषदिक-दर्शन के सहारे, शिव और शक्ति के विमर्शन के रूप में प्रतिपादित किया, जिसमें शाश्वत, शुद्ध बुद्धिवैभव वाले उच्च मूल्य ब्राह्मणत्व का, आर्यत्व का मानवीकरण 'मनु' के रूप में किया गया है, जो भोगवादी सृष्टि के रमणीय विधान को रचता है।

पुनरुत्थान, प्रसाद की रचना-प्रतिभा की चौहद्दी है। प्रसाद ने उसमें नई-स्फूर्ति पैदा कर दी है। नया जीवन भर दिया है। क्या कारण है कि आजादी के बाद मैथिलीशरण गुप्त की रचना-प्रतिभा की अपेक्षा प्रसाद की रचनाधारा को अधिक मान्यता मिली ? यदि लोकप्रियता को पैमाना मान लिया जाये तो आजादी से पहले प्रसाद की अपेक्षा मैथिलीशरण गुप्त का स्थान ऊँचा था। मैथिलीशरण की रचना गाँधी की राजनीति का आधार पकड़ चुकी थी, वह राष्ट्रीय-आन्दोलन में जनता के पास पहुँच गयी थी। प्रसाद की स्थिति विभिन्न प्रकार की थी। आचार्य महावीर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल तक ने प्रसाद को उतना महत्व नहीं दिया। लेकिन आजादी के बाद 'राष्ट्रीय पूंजीवाद' स्वतंत्र हुआ। विज्ञान, उद्योग, तकनालाजी पर पूंजीपतियों का आधिपत्य हुआ। नये आर्थिक-सम्बन्ध बने। नये किस्म की उदारवादी-आदर्शवादी ससदीय राजनीति के लिये एक संविधान बनाया गया जिसके बनाने-वालों के संस्कार पुनरुत्थानवादी थे। गाँधी जी जो कि सामंती-जीवन दर्शन के प्रतिनिधि चरित्र थे, नवोदित पूंजीवाद की गोली का शिकार हो गये। अब समूचे भारतीय समाज पर पूंजीवादी व्यक्तिवाद का असर चढ़ने लगा। मैथिलीशरण की कविता द्वितीय स्तर की बना दी गयी और प्रसाद के 'मनु' को गद्दीनशी किया गया। मनु का जन्म पुनरुत्थान-वाद की पूंजी-संस्कृति के हिस्से से हुआ था। अतः उसके विकास की परिस्थितियो मे 'मनु' प्रथम श्रेणी के पात्र बन गये। कल के पुनरुत्थानवादी मैथिलीशरण में आश्वस्त थे तो आज के (आजाद भारत के) पुनरुत्थानवादी मनु और प्रसाद के प्रशंसक हैं।

चूंकि पूंजीवादी और पुनरुत्थानवादी अधिक समय तक एक साथ नहीं रह सकते। दोनों में शत्रुता पैदा होने लगती है। आजाद भारत के पूंजीवादी रचना-परिवेश में मनु का स्थान 'भुवन' और 'शेखर' ले लेते हैं। 'मनु' से 'शेखर' तक की रचना यात्रा को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक परिवेश में ही देखना चाहिये

लेकिन बीच में एक और पात्र है, जिसका संसार मनु और शेखर से अधिक गम्भीर और बड़ा है जो जनवादी प्रवृत्ति के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रहा है—जिसकी दुनिया को अब महत्व दिया जा रहा है—क्योंकि उसने अपने पुनरुत्थानवादी लबादे को फेंक दिया है—वह है प्रेमचन्द्र का 'होरी'। मैथिलीशरण गुप्त तो अपनी दीर्घकालीन ऐतिहासिक विरासत के साथ डूब चुके हैं। प्रसाद का मनु अपने चोले बदल-बदल कर कभी शेखर और भुवन में और अब हिन्दी सिनेमा के पात्रों जैसे नायकों में शेष हो गया है। लेकिन प्रेमचन्द का होरी सृजनशील शक्ति को संजोते हुये उठ खड़ा हुआ है। इतिहास हमेशा सृजनशील प्रतिभा का होता है, उसके अनुरूप आचरण करता है। वह उपभोक्ता की जिन्दगी जीने वाले का नहीं होता। होरी अपने युग के पुनरुत्थानवादी भाववाद से मुक्त हो गया है। अपने आर्थिक राजनीतिक परिवेश के प्रति सचेत हो गया है। अब होरी का सम्बन्ध नगर के मजदूर और बाबू से हो चुका है। उसकी संगठित ताकत धीरे-धीरे नयी आकृति लेने लगी है। देखना है कि प्रतिगामी ताकतें कितने दिनों तक सृजनशील-ताकतों को भुलावे में डाल पाती है ? संस्कृति की जड़ता और उसकी सृजनशीलता के संघर्ष को रोका नही जा सकता। होरी के विकासमान चरित्र में आश्वस्त रचनाकार मनु को "इतिहास की फतासी मानने" लगा है।

आजादी के बाद के हिन्दी साहित्य में संघर्ष की बुनियादी को पकड़ना चाहिये उसमें प्रजातन्त्र के सारतत्व की खोज करनी चाहिये। एक ओर भारत के राष्ट्रीय पूंजीवाद का सहयोग अमरीकी और पश्चिमी पूंजीवाद से होता है—दूसरी ओर अज्ञेय और उनके स्कूल के रचनाकार सांस्कृतिक कथ्यों में उस सहयोग को प्रकाशित करने लगते हैं। समाजवादी विचार के विरुद्ध शीत युद्ध में शरीक होते हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवाद का नाम लेने वाले पं० जवाहरलाल नेहरू, प्रधान मन्त्री बनने के बाद वास्तविक अर्थ को भ्रमित करने लगते हैं। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की संस्कृति का सहारा लेकर नेहरू ने समाजवाद का सबसे बड़ा नुकसान यह किया कि उसे लफ्फाजी का विषय बना दिया। करनी से अलग करके कथनी का नारा बना दिया। ऐसी परिस्थितियों का लाभ उठाकर अज्ञेय ने तारसप्तक प्रकरण से समाजवाद-विरोधी शीत युद्ध में पश्चिमी पूंजीवाद, साम्राज्यवाद का खुलकर साथ दिया। अब मनु की जगह शेखर और भुवन का नशा बढ़ने लगा। अब मनु के दार्शनिक मुद्राओं वाले भोगवाद का स्थान शारीरिक भोगवाद के तर्क ने ले लिया। अब भोगवाद मनोगत उतना नहीं रह गया। अज्ञेय ने पूंजीवादी उमंगों का व्यष्टीयन किया है। शेखर का जन्म प्रसाद के मनुतत्व की माइथालाजी को हटाकर होता है। यहाँ स्त्री-पुरुष के शरीर-सम्बन्धों की निर्बाध रसधारा है। अहं का पुनसत्व है—कहीं कोई काम-अध्यात्म का आवरण नहीं है। अब रवीन्द्र नाथ की अप्सरा का और प्रसाद की मालविका का जमाना नहीं रहा।

लेकिन आजादी के कुछ ही दिनों बाद अज्ञेय का रचना-षड़यन्त्र खुल जाता है। उनकी चोरी पकड़ी जाती है। अब यह बात साफ हो गयी है कि संस्कृति के क्षेत्र में, रचना के क्षेत्र में जासूसी करने से कोई लाभ नहीं होता। अज्ञेय जी अपनी इज्जत गवाँ बैठे हैं, वैसे तो वे पुराने घुसपैठिया रहे हैं, दलाली की खाते रहे हैं, लेकिन इधर कुछ दिनों से उनकी योजनाओं को घातक प्रहारों का सामना करना पड़ा है। आदमी के हाथ से जब पहल निकल जाती है तो फड़फड़ाने और फुदकने से कोई काम नहीं चलता। अज्ञेय के जनविरोधी हाथों से रचनात्मक-पहल निकल चुकी है। वे मानस के हंस बन गये है, मोती चुगने लगे हैं। जिन्दगी को खूब भोगा, 'जनता को दगा दी।' अब हंस बनकर सूक्ति-गायन कर रहे हैं। कोई उजर नहीं है—बड़भागी, अवसरवादी बनकर जिये—और "अपने-अपने अजनबियों" के आत्मपरायेपन का विषय बन गये। वे शाश्वत मृत्युबोध के गीत गाने लगे क्योंकि पश्चिमी संसार वहाँ तक पहुँच चुका है। इसीलिये उनके मानस पुत्र 'भुवन' और 'शेखर' की नियत खराब हो गयी है। वे रचना-संसार में अस्तित्ववादी आत्म-बिलगाव के शिकार हो गये है। सत्रास, पीड़ा, विघटन के फेरे में आ गये हैं। उनमें अपराध की ग्रन्थि पैदा हो गयो है। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर के हाथों उनकी अस्मिता और नियति ही बदल गयी है। और अब उनका नया रूपान्तरण गुलशन नन्दा और रानू आदि के लुच्चेपन, लफंगेफन में हो रहा है—वे सिनेमाई बन गये हैं। उनकी रचनात्मक कलायें समाप्त हो गयीं हैं। व्यावसायिकता के शिकार हो गये हैं। वे विज्ञापनीय हो गये हैं। यह पूँजीवादी कला-संस्कार के ह्रास का समय है अतः शेखर और भुवन की परिणति "जीरो-जीरो सेविन" के कथ्यों में हुई है।

आज़ादी के बाद साहित्य में व्यक्ति और समाज का संघर्ष आर्थिक, राजनीतिक मुद्दों से युक्त हो जाता है। साहित्य में जहाँ एक ओर मनु से लेकर शेखर और बाद में व्यक्तिवाद की पराजय और कुँठा दिखाई देती है वहीं दूसरी ओर होरी और गोबर की सामाजिकता अधिक संगठित और अनुशासित होती जाती है और समाज के रचनात्मक सस्कार का वरण करती जाती है। राष्ट्र की मुख्य चिन्तनधारा से जुड़ती जाती है। जहाँ व्यक्तिवाद अपनी घुटन और टूटन को "धर्मयुग", "कादम्बिनी" और "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में जी रहा है वहीं समाजवादी-विचार की स्फूर्ति के कारण अंचल-अंचल पत्रों-पत्रिकाओं का जन्म होने लगा है। प्रासंगिक लेखन हर ज़मीन से उग रहा है। अप्रासंगिक लेखन की नागरिकता और उसका सम्बोधन अमूर्त हो रहा है। सबको मालूम है कि धर्मयुग और कादम्बिनी की बुनियादें व्यावसायिक विज्ञापनबाजी की है। उनका समाज की वास्तविकता और सच्चाई से कोई सरोकार नहीं है। उनके पास हर आदमी की क़ीमत है। वे क़ीमत की औक़ात वाली पत्रिकाएँ हैं। अब जागरुक रचना मे क़ीमत आँकने वालों का स्थान नहीं है। रचना में दूकानदारी करने वालों का पर्दा उठ गया है

अब जन-आधारों को पकड़ने वाली रचना का भविष्य ही सुरक्षित है। अब रचना न तो रसवाद में हो सकती है न बौद्धिक व्याख्याओं में, उसके लिए भौतिक परिवेश के मानवीय बनने की परिस्थितियाँ आवश्यक हो गई हैं। इसलिए जनवादी रचना का स्थान दिन-प्रतिदिन विस्तृत होता जा रहा है। आज सृसनकर्म की सुविधाएँ समूचे समाज के पास हैं और सच्चे सृसन की तड़प भी जनता में है। अतः उत्पादन करने वाला व्यक्ति अपनी आवश्यकता और स्वतन्त्रता की लड़ाई के लिए सांस्कृतक-सृसन मे पीछे नहीं है।

## भौतिक परिवेश में सोद्देश्य परिवर्तन से भाषा में क्रान्तिकारी भंगिमायें पैदा होती हैं :

भौतिक परिवेश में मनुष्य के द्वारा किये गये सोद्देश्य परिवर्तनों से अभिव्यंजना-वृत्ति का विकास होता है। अर्थ-परिवेश बदलता है, उसकी नई स्थितियाँ बनती हैं। भौतिक परिवर्तनों के कारण प्रचलित और मान्य शब्दों की प्रकृति बदलती है—उनके अर्थसंश्लेषण में अन्तर्द्वन्द्व पैदा होने लगते हैं। नये प्रारूप और परिधान के लिए शब्दों में अर्थ की गुणात्मक चेतना का विकास होता है, कसावट आती है। अर्थ की कसावट में युग की प्राथमिकताओं को व्यंजित करने वाली प्रवृत्तियों का विशेष योगदान रहता है। यदि युग की प्राथमिक समस्याओं का सम्बन्ध रचना से न रहे तो शब्दों-अर्थों में ताज़गी, स्फूर्ति और आकर्षण फ़ीका पड़ने लगेगा। उनकी प्रासंगिकता गौण होने लगेगी। वे सम्बद्धता के आचार-व्यवहार से विमुख होने लगेंगे। उनमें स्वेच्छाचारिता आने लगेगी। कुल मिलाकर कलाप्रदर्शन की वस्तु बन जायेंगे। युग-जीवन की प्राथमिक समस्याओं को व्यक्त करने वाली भाषा ही प्रसरणशील होती है, उसके संदर्भ प्रतिबद्ध होते हैं। शब्द और अर्थ के संदर्भों का विकास ही हमेशा युग-जीवन की प्राथमिक समस्याओं के द्वन्द्वात्मक वस्तुवादी ग्रहण के आधार पर होता है। इस तरह भाषा अपने समाज की मूर्त्ति विधायक होती है।

मनुष्य के इतिहास में साहित्य की भूमिका मात्र सैद्धान्तिक नहीं होती—उसमें तटस्थ मूल्यों का रस-सौष्ठव नहीं होता। साहित्य ठहरी हुई स्थिर ज़िन्दगी के अर्थात् सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से बचकर चलने वाली अथवा मुख्य धारा से कटकर जीने वाली यांत्रिक क़िस्म के ऐश्वर्य-भोग के अलंकृत वैभव की प्रतिकृति नहीं होता। इतिहास में साहित्य मात्र दर्पण नहीं होता और न प्रतिसंसार होता है। वह तो इतिहास की निरन्तर उत्कर्ष-विधायक गति के मूल्यचेतित स्वभाव को प्रकट करता है। रचना जैसे-जैसे अपने युग के भौतिक-परिवेश के आन्तरिक द्वन्द्वों को पकड़ने लगती है; वैसे-वैसे मानव-जीवन को स्पष्ट करने वाले आधार वस्तुनिष्ठ रूपों में बहु-भंगिमा युक्त होने लगते हैं। उसके प्रेरणा-स्रोत समाज की नसों-रगों-रेशाओं में रक्तसिंचन करने लगते हैं। रचना ऐसी हालत में समूचे इतिहास और समाज के रक्तप्रवाह से संश्लिष्ट होने

लगती है। जैविक रूप धारण करने लगती है। जिस रचना की चेतना में युग का प्रवाह नहीं है उसके जैविक शरीर की उन्नति रुक जाती है, वह बौनी हो जाती है—रक्तहीन होकर रक्त सूखने लगती है। क्योंकि रक्त की सृष्टि तो ज़मीन की गुणचेतना वाले समूचे वातावरण से होती है।

जो लोग अज्ञानवश, पूर्वाग्रहों के कारण, गलत अध्ययन तथा शौकिया-मिजाज़ से रचनाकार के अवचेतन मन की बातें करते हैं, व्यक्तिमन के गुह्य-कक्षों में प्रवेश की बातें करते हैं, यदि उनके संस्कार व्यक्तिवाद की कुंठाओं से एकदम दमित नहीं हो गये हैं, और वे मन के ज्ञानात्मक तार्किक तथा विश्लेषण प्रधान स्वभाव में तनिक भी विश्वास करते हैं तथा उसके विकास की भौतिक परिस्थितियों या बर्हिवातावरण को भी देखते और स्वीकार करते हैं, तो उनकी रचनात्मक सूझबूझ का चरित्र धीरे-धीरे विकसित होता हुआ ऐतिहासिक भौतिकवाद के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्तों के अनुकूल हो जाएगा। आधुनिक युग की सृजनात्मक कार्यवाही में तब तक कोई नया तत्व नहीं जुड़ सकेगा जब तक वर्तमान जीवन के ऐतिहासिक वस्तुवाद की समझ नहीं होगी। इसीलिये आज सभी तरह की सृजनशील प्रतिभाओं के सामने एक विकल्प है—सिर्फ एक विकल्प समाजवादी-यथार्थवाद की आधुनिक संस्कृति का। इसी जीवन दर्शन का भविष्य है और उसका वर्तमान संघर्षरत्न है, वैज्ञानिक है और इसीलिये सम्मत भी है।

हम देखते हैं कि आज तक के रचनाकारों और समीक्षकों ने रचना को स्वायत्त, स्वच्छन्द और आत्मपूर्ण इसलिये मान लिया है कि मन की सत्ता को सभी तरह के अनुशासनों से बाहर रखा जा सके। मन की सत्ता के निरंकुश और सर्व स्वच्छन्द होने से जो कार्य होगा, वह निर्लिप्त और अखण्ड होगा। यह प्रकृतिवादी अराजकतावाद है। मन की सत्ता पर किसी न किसी विचार-संस्कृति का अनुशासन होता है। विचार-धारात्मक परिप्रेक्ष्य होना चाहिये अन्यथा मन की स्वच्छन्द सत्ता का सर्जन जङ्गल के पेड़ो, पौधों, फूलों-फलों की तरह का होगा। इतिहास में जीने वाले मनुष्य के मन की सत्ता स्वच्छन्द नहीं होती। यदि मन की सत्ता को इतिहास और समाज के अनुशासन मे देखे तो आज तक के अधिकांश उदात्त, उर्जस्वित, महान-विचार रेत की दीवार बनकर ढह जायेंगे।

इतिहास की द्वन्द्वात्मक विकासगति से ही विचारधारात्मक संज्ञान बनते हैं, सास्कृतिक संस्थान बनते हैं। युग विवेक पैदा होता है जो संस्कृति और साहित्य की मूल्य-चेतना को निर्धारित तथा निश्चित करता है। अतः इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे ही साहित्य मानवीय-क्रिया कलापों और मानवीय सम्बन्धों के उत्कर्ष-विधायक अर्थ-संश्लेष को, मूल्य-विधायक सांस्कृतिक चेष्टा को मूर्तिमान करता है। इस तरह साहित्य मे इतिहास और इतिहास में साहित्य की अंतरंग संगति होती है। साहित्य में विशदता और इतिहास से आती है इतिहास से बाहर चाँद और सितारों का रहस्य

वादी आशियाना है जहाँ प्यार और मुहब्बत के चक्रवात उठते हैं। जहाँ शून्य सम्बोधित ध्वनि को ही विराट और सूक्ष्म कहा जाता है।

इतिहास के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से ही रचना में निहित अतिवादिताओं और अति-रंजनाओं को बहिष्कृत किया जा सकता है। इतिहास ही रचना को सांस्कृतिक सम्मान देता है। क्योंकि साहित्य में जीवन का वजन इतिहास प्रदत्त और उसकी गम्भीरता इतिहास प्रमाणित होती है। इस तरह साहित्य और इतिहास के रिश्ते मनुष्य की अन्त-श्चेतना के विकास से सम्बद्ध होते हैं। इतिहास की अन्तर्वस्तु ही साहित्य में रूपायित होती है। रचना एक क्रियाशील संसार के रूप में इतिहास का विषय होती है। उसके पात्रों में, सन्दर्भों में, अर्थ के स्तरों में मानवीय सम्बन्धों की व्यंजना होती है। इतिहास तत्वरूप में साहित्य का यथार्थवाद होता है, जो रचना प्रक्रिया को स्वतः स्फूर्त उन्मादों से मुक्त रखता है। उत्तेजक प्रमादों से मुक्त रखता है, मिथकीय संभ्रम और फन्तासी से रक्षा करता है। इस तरह रचना में चारित्रिक बल इतिहास से आता है। इतिहास से बाहर की रचना अपनी अस्तित्व-धुरी से खिसकी हुई होती है। वह अजनबियों के संसार का विषय बनने लगती है।

---

# खड़ी बोली हिन्दी रचना में लोकतंत्री सारतत्व

## ( राजनीत्यार्थिकी* की पृष्ठभूमि )

हिन्दी-प्रदेश के आधुनिक साहित्य में "खड़ी बोली", "आधुनिकता" और "लोकभावना" के गहरे सम्बन्ध हैं। भारत में आधुनिकीकरण से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तेज हुई जिसके परिणामस्वरूप लोकमाध्यम में नई अर्थशक्ति और नई जीवन-शक्ति आयी। एक ओर तो राष्ट्रीयता की भावना धीरे-धीरे प्रबल होती गई, दूसरी ओर आँचलिक और क्षेत्रीय बोलियाँ तथा भाषाएँ अपने पारम्परिक अर्थ-परिवेश से मुक्त होती गयीं। इन बोलियों और भाषाओं में दीर्घकाल से पाये जाने वाले आत्मपरक व्यंजना के आधार अब समकालीन सामाजिक यथार्थ के कारण अधिक वस्तुमुखी होते गये। उद्योग, विज्ञान के प्रसार और विस्तार से भौतिक परिवेश में जो परिवर्तन हुआ, सामाजिक सम्बन्धों में जो बदलाव आया, उसके कारण माध्यम और अभिव्यंजना की प्रकृति भी बदलती गई, वह यथार्थवादी होती गई।

खड़ी-बोली के विकास में जीवन के आधुनिकीकरण का विशेष महत्व रहा है। खड़ी-बोली ने तमाम आँचलिक, क्षेत्रीय और प्रान्तीय बोधव्यताओं को समाविष्ट किया—एक बृहत् राष्ट्रीयबोध को समृद्ध किया। इसी क्रम में सामन्ती व्यवस्था की नस्लगत, जाति-उपजातिगत असमानताएँ भी समाप्त होती गई। रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और मिथक शैलियों की आत्मरंजित अमूर्त दंतकथाओं से विश्वास हटने लगा। इसी क्रम में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जिज्ञासाएँ पैदा होने लगी और साम्राज्यवाद विरोध की धारा प्रवाहित होने लगी। नई शिक्षा के सामयिक उपयोग की आवश्यकता बढ़ने लगी। इस तरह खड़ी-बोली के रचना संस्कारों में आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति है जो भौतिक-आर्थिक प्रगति के द्वारा समूचे समाज और राष्ट्र की प्रगतिशील संभावनाओ को लक्षित किये हैं, पूरे लोकमानस को लक्षित किये हैं। इसीलिए आधुनिक भारतीय जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों को समझना चाहिए। लेकिन इन बदली हुई परिस्थितियों की पहचान हमारे राजनीतिक आचरण से, हमारी अर्थनीति से तथा हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध निर्धारण से होती है तथा नये प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासाओ, सांस्कृतिक, कलात्मक और नैतिक रुचियों से होती है।

आज हमारा समाजदर्शन अपने में पूर्ण एक अखंड इकाई या फिर एक स्वायत्त अनुशासन नहीं है। उसकी रचना के इतिहास को ध्यान में रखते हुए आधुनिकीकरण के भौतिक और वैज्ञानिक संदर्भों पर आश्वस्त होना पड़ेगा। ऐसा करने के बाद ही प्रादेशिक और क्षेत्रीय पृथक्कताओं और संकीर्णताओं से मुक्ति मिल सकेगी। आधुनिकी-

*Political Economy

करण को देश और जाति से बाँधकर नहीं रखा जा सकता। विज्ञान और टेक्नालॉजी को हिन्दू विज्ञान और मुसलमान टेक्नालॉजी के नाम से नहीं पुकारा जा सकता। अब ब्राह्मण संस्कार और उनकी शिक्षा-दीक्षा का, क्षत्रियों की वीर रसात्मकता का तथा वैश्यों की परम्परावादी पिछड़ी हुई वणिक वृत्ति का जमाना नहीं है। शूद्र कहकर मनुष्य समाज के बहुत बड़े, किन्तु इतिहास में पिछड़े हुए वर्ग को अलग-थलग नहीं किया जा सकता। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक सम्बन्धों को गैरसाम्प्रदायिक और मानवीय बनाया है। मनुष्य के इतिहास बोध को वैज्ञानिक आधार दिया है। आज हमारे पास वह तर्क है, वह विवेक है जिससे स्पष्ट होता है कि श्रम और मनुष्य के सम्बन्ध हमेशा ही आवश्यकता और स्वतन्त्रता की जागरूक चेतना से मानवीय संस्कारों में ढलते हैं। इसीलिए आज शोषण की परम्परावादी-सामंती शैली का ह्रास हो चुका है तथा शोषण की आधुनिक पूँजीवादी शैली के विरुद्ध संघर्ष छिड़ चुका है। विज्ञान-टेक्नालॉजी ने जिस तरह के सामाजिक सम्बन्धों को पैदा किया है वे न तो जातीय सम्प्रदायों में विभक्त हो सकते हैं और न उनपर किसी धर्म का एकाधिकार रह सकता है। उनपर किन्हीं विशिष्ट लोगों और वर्गों का आधिपत्य भी नहीं रह सकता है।

मनुष्य अब अकेला नहीं है। अकेले रहकर जीना उनकी नियति भी नहीं है। उसमें अपने युग और समाज की शक्तियाँ समाहित हो गयी हैं। वह एक सामाजिक मनुष्य हो गया है। और फिर वह उत्पादक के रूप में न तो कभी अकेला था और न आज है। सामाजिक उत्पादन के अंग के रूप में वह अपनी श्रम-शक्ति के प्रति सजग होकर, संगठित होकर अपने जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिये तैयार हो गया है। आधुनिक समाजदर्शन में इस तथ्य को या तो अज्ञानवश नकारा जाता है या फिर, जानबूझकर मनुष्यता के विरुद्ध षडयंत्र का हिस्सेदार होकर गलत ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन मनुष्य को उसके श्रम से पृथक करने वाली शक्तियाँ पिछड़ रही हैं। अब अज्ञान का अंधकार दूर हो रहा है तथा संघर्ष की बुनियादें मजबूत हो रही हैं। आत्म-विलगाव की भंगिमाओं को गौरवान्वित करने का समय नहीं रह गया है। अस्तित्ववादी मृत्युबोध में व्यक्ति की अस्मिता और नियति को सनकियों की तरह नहीं तलाशा जा सकता। नये मनुष्य की नई मनुष्यता का आधारफलक बृहत और विशद है। उसकी पक्षधरता और प्रतिबद्धता स्पष्ट है।

विज्ञान और तकनालाजी के मानवीय सम्बन्धों पर विचार विमर्श करते समय मनुष्यमात्र की सर्जनात्मक गुणनशीलता के सार्थक योगफल को केन्द्र-दृष्टि में रखना होगा। श्रेणियों में विभक्त मनुष्य की सर्जनात्मक प्रतिभा का अपव्यय होता है क्योंकि उससे मानवीय सारतत्व में कोई अंतरङ्गसंगति नहीं आ पाती। फलतः कोई यथार्थ विश्वदृष्टि नहीं बन पाती। विज्ञान, मनुष्यवाचक है—व्यक्तिवाचक या सम्प्रदाय-वाचक नहीं है विज्ञान और मनुष्य के रिश्तों को सार्वजनिक बनाना होगा ऐसा

तभी होगा जब हर तरह की विशिष्टता को सर्जनात्मक गुण-धर्म के सार्वजनिक व्यापारों तक व्याप्त कर दिया जाए। तभी विज्ञान और मनुष्य के सम्बन्ध अविकृत हो सकेंगे।

जैसा कि ऊपर कहा है कि खड़ी-बोली के निरन्तर समृद्ध होते हुये शब्द-अर्थ के परिवेश में आधुनिकीकरण की भावना व्याप्त है। उसमें विज्ञान-तकनालाजी तथा मनुष्य के प्रगतिशील सम्बन्धों का संघर्षबोध निहित है। खड़ी-बोली की शब्द सम्पदा के विकास पर, उसकी अर्थक्षमता पर शक करने वाले समूचे भूभाग के मनुष्य की सामूहिक श्रमशक्ति को, उसकी रचनात्मक वृत्ति को काटना-छाँटना चाहते हैं। यदि आधुनिक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की मूल प्रकृति को समझें, तो ज्ञात होगा कि उसमें एक ओर रजवाड़ों—रियासतों—नवाबों—जमीदारों और अंग्रेजी दाँ नये इलीट की महत्वाकांक्षायें हैं तो दूसरी ओर किसान-मजदूर तथा शहर के मध्यवर्ग की क्रान्तिकारी इच्छायें हैं। खड़ी बोली में अभिजातवर्गीय महत्वाकांक्षाओं की अपेक्षा किसान, मजदूर और मध्यवर्ग की लोकजीवी जीवन चेतना व्यक्त होती है। अभिजात वर्ग ने तो खड़ी बोली को रोमान्टिक बनाया है, उसे संस्कृतनिष्ठ किया है, तत्सम् सस्कारी बनाया है। शब्द की वेदान्तिक मुद्राओं को सजाया है इस प्रकार खड़ी बोली के यथार्थ और सामाजिक सम्बन्धों को क्षीण किया है। लोक जीवन से खड़ी-बोली का सम्बन्ध नैसर्गिक रहा है।

लोकजीवन की विविधताओं और असमानताओं के होते हुये भी भारतीय किसान-मजदूर और मध्य वर्ग अपने श्रम की संस्कृति में एकनिष्ठ रहा है। खड़ी बोली मे इस एकनिष्ठता की व्यंजना होती है। अतः खड़ी बोली के साहित्य में नवधनाढ्य की राष्ट्रीय भावना और किसान-मजदूर तथा मध्य वर्ग की राष्ट्रीय भावना का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। दोनों वर्गों के सैद्धान्तिक आधारों का बिलगाव स्पष्ट दिखाई देता है। क्या दोनों वर्गों की राष्ट्रीय भावना एक सी हो सकती है? राष्ट्र के प्रति दोनों वर्गों के उद्देश्य क्या एक ही तरह के हैं? अतः यहीं पर सवाल उठता है कि राष्ट्रीय माध्यम की जरूरत किसे है? क्या प्रभुत्व सम्पन्न उपभोक्ता समाज को या उत्पादक को—सर्जक को? माध्यम में एकजुट करने की, एकनिष्ठ बनाने की, संघर्ष-विचार को परिपक्व करने की अपार क्षमता होती है। अतः ये कौन लोग हैं जो माध्यम को भी आत्मपरायेपन की नियति देना चाहते हैं? उसे खण्ड-खण्ड विभक्त कर देना चाहते हैं? (हिन्दी का नया कवि जिस माध्यम की, भाषा की बात करता है—क्या वह सामूहिक श्रम-शक्ति के रचनात्मक स्रोतों को समझता है? रचनात्मक स्फूर्ति और उमंग के उत्पादक-स्रोत कहाँ है? डार्विन-फ्रायड से काम नहीं चलेगा। उपभोक्ता समाज की विलासी रंगीनियो से काम नहीं चलेगा लोक-जीवन के बदलते हुये यथार्थ की शक्ति को होगा )

भारतेन्दु युग से आज तक की खड़ी बोली की क्रान्तिकारी जनवादी प्रकृति को समझने से उक्त तथ्य की प्रामाणिकता सामने आ जायेगी कि राष्ट्र की आजादी के संघर्ष में किस वर्ग की कैसी भूमिका रही है ? भारतेन्दु युग की खड़ी बोली मे सम्प्रदाय भेद का विष नहीं था। वह तो उर्दू की मज़बूत बाँहों को पकड़कर आगे बढ रही थी। उत्पादनकर्ता के श्रम की लोकोन्मुखी चेतना को व्यक्त करने में लगी थी। भारतेन्दु युग की खड़ी बोली आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भिक काल के भौतिक विवेक को आत्मसात कर रही थी। खड़ी बोली की गद्य-चेतना ने मध्ययुगीन काव्य-भावना के होश उड़ा दिये थे। ब्रज, अवधी और उर्दू की आंचलिकता को धक्का लगा था। इन भाषाओं का सौष्ठव धीरे-धीरे समकालीन लोकचेतना विहीन होने लगा। खडीबोली ने अपने युगबोध को, अपनी समकालीन सामाजिकता को नई आकृति दी। भारतेन्दु युग ने जनश्रम की संस्कृति को संघर्षधर्मी बनाया। ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि अंग्रेजों ने किसान और ग्रामीण धन्धों की, किसानी और शिल्पकारी की सामूहिक एकरसता को खंडित कर दिया था। भारतीय जनजीवन में पहली बार "ग्रामो की सामूहिकता टूटने" लगी थी। गाँवों के उत्पादन-सम्बन्धों पर आत्मविलगाव की छाया पडने लगी थी। लोग बेघर होकर नवोदित नगरों की ओर भागने लगे थे। ऐसी अस्त-व्यस्त स्थिति में मध्ययुगीन धार्मिक-नैतिक निष्ठायें भी बिखरने लगी थीं। नवोदित नगरों में एक बड़ा हिस्सा अंग्रेजी शासन का बाबू बन चुका था। वह नौकरशाही का वफादार अंग बन चुका था। नौकरशाही के अनेक अंग और स्तर थे, पद और पगार के भेद थे। बड़े-बड़े पदों पर उच्च परिवारों के अंग्रेजीदाँ आसीन थे। अंग्रेजों की प्रशासकीय मशीन को चलाने के लिये तथा उनके हितों की रक्षा के लिये गुलामो के स्तर-दर-स्तर भेद कर दिये गये थे। उनके अलग-अलग जीवन मान बना दिये गये थे। यहीं से उस जीवनमान की सनक पैदा हुई जो उपभोक्ता समाज की देन थी। गाँवों से नगर में आया हुआ किसान का लड़का, शिल्पकार का लड़का धीरे-धीरे उपभोक्ता समाज का अंग बनने लगा। उसके श्रमिक-संस्कार कुंठित होने लगे। वह आत्म-निर्वासित सा होने लगा और उसके जीवन में स्थिरता आने लगी।

भारतेन्दु युग तक लोक संस्कृति और नागर संस्कृति में भेद दिखाई देने लगा। अंग्रेजों ने नगर की रचना अपने व्यावसायिक हितों की दृष्टि से तथा प्रशासन को चलाने की दृष्टि से की थी। इन नगरों में मशीनें थीं, मजदूर थे, कार्यालय थे और बाबू थे। इस तरह आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुये गाँवों में किसानी और दस्तकारी अलग-अलग पड़ गयी थी, फलस्वरूप नगरों में भीड़ की तरह खिंचाव बढ़ता गया और नगर में मध्य-वित्त वर्ग की एक तस्वीर खिंचने लगी। यदि इस स्थिति में खड़ी बोली के रचना-संस्कारों की समीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि उसमें

नगर की विषम जिन्दगी को मुखरित करने की क्षमता थी। उसमें ग्रामों और नगरों के पारस्परिक अन्तर्विरोधों को खोज निकालने की क्षमता थी। खड़ीबोली में ग्रामो की टूटन, नगरों के विलगाव और प्रशासन की जन-विरोधी नीतियों को स्पष्ट करने की क्षमता थी। खड़ीबोली ने मजदूर से लेकर बाबू तक के जीवन के अभावों को वाणी दी, उनके आक्रोश को व्यक्त किया। इस तरह खड़ीबोली की जीवन-चेतना में विरोध और विद्रोह है। खड़ीबोली में आमूल परिवर्तन पैदा कर देने की प्रवृत्ति और तर्क है। समकालीनता और पक्षधरता से उसकी रचना हुई है। खड़ीबोली के मनोभाव तटस्था-बोधक नहीं हैं। वह तो निहित-अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करने वाली जनभाषा है प्रति-बद्धता में ही उसकी रचनात्मक विवेकशीलता का इजहार होता है। इस तरह खड़ी बोली समकालीन जन-जीवन की आवश्यकता को व्यक्त करने वाले माध्यम के रूप मे विकसित हुई है। खड़ीबोली आवश्यकता को निरन्तर यथार्थरूप में पेश करने, उसके प्रति सजग करने की सामाजिक संघर्षशीलता के गुण-धर्म को व्यक्त करती है। इस तरह खड़ीबोली स्वतन्त्रता के सामाजिक और लोकजीवी पहलुओं को स्पष्ट करती है।

भाषा को वैश्या बनाकर उसके रूपवैभव को ध्वनिवाद के सहारे व्यंजित करने वाले, भांड़ों से अधिक महत्व नहीं रखते। और भाषा को बाजारू माल के बहीखाते की तरह प्रयोग करने वाले, उसके अर्थ की खरीद-फ़रोख्त में सम्प्रेषण और मूल्य की चर्चा करनेवाले व्यापारियों से अधिक महत्व नहीं रखते। जब तक शब्द के पैदाइशी कारण को तथा उसमें निहित अर्थ की अनिवार्य-आवश्यकता को समकालीन युगबोध के संदर्भ में तथा सामाजिक-सम्बन्धों के निरन्तर विकासमान संदर्भों में नहीं देखा जाएगा तब तक भाषा की यथार्थ समझ पैदा नहीं हो सकेगी। शब्द को स्वायत्त मानने वाले तथा अर्थ को निरपेक्ष कहने वाले मूर्ख पंडितों से खड़ीबोली के शब्द-विन्यास तथा उसके अर्थ-विस्तार की चर्चा इतिहास के संदर्भ में करनी चाहिये। खड़ी बोली के जन्म की परिस्थितियाँ मनुष्य को मध्ययुग के जीवन से बाहर कर रही थीं। खड़ीबोली इतिहास के वस्तुवाद की उस अग्रिम दशा को व्यक्त करती है जिसमें आधुनिक भारत के लोकजीवन की संभावनायें निहित हैं।

हम कह सकते हैं कि अंग्रेजों के विरोध की प्रथम राजनीतिक प्रतिक्रिया का परिणाम था अठारह सौ सन्तावन का संग्राम—और इसी संग्राम की सांस्कृतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में है भारतेन्दु युग का साहित्य—जिसका माध्यम है खड़ीबोली। सत्रह सौ सन्तावन के प्लासी के युद्ध से अठारह सौ सन्तावन के प्रथम मुक्ति संग्राम तक की आन्दोलनकारी-क्रान्तिकारी लोकचेतना को व्यक्त किया है—खड़ीबोली के साहित्य ने। इस तरह भारतेन्दु युग के समकालीन बोध में है संघर्ष—और इसी संघर्ष को व्यक्त करने वाली भाषा है खड़ीबोली।

भाषा निरन्तर विकसित होती हुई वृहद जीवनचेतना की ... व्यक्ति

होती है। जीवन-शक्ति के रूप में भाषा हमेशा युग के द्वन्द्वात्मक पहलुओं को व्यक्त करती है, उसमें भौतिक परिवेश और समाज की वस्तुपरक स्थितियों का द्वन्द्वात्मक मथन होता है उसके बाद ही आत्मसंश्लिष्टता आती है, विश्वजनीनता आती है, जिससे प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ-परिवेश निर्धारित होता है। इसी द्वन्द्वात्मक क्रम में अर्थ के सभावित रूपों और पहलुओं की व्यंजना होती है, जिससे शब्द लचकदार बनते हैं। इसी द्वन्द्ववाद के द्वारा शब्द अपने अभिधा कक्ष के गुण-धर्म को लक्षणा और व्यंजना के जटिल और सूक्ष्म मार्गों पर ले जाता है। लेकिन मार्ग की लम्बाई कितनी है ? गन्तव्य कहाँ है ? यह दृष्टि अभिधा-परिवेश से ही बनती है, क्योंकि जिस सृजन के स्रोत ज्ञात हैं ? कारणत्व-बोध स्पष्ट है तो उसको व्यक्त करने वाले माध्यम की वस्तु-निष्ठ-आत्मनिष्ठ एकतानता बनी रहेगी। उसके भीतर घटित होने वाले परिवर्तनों की गुणात्मक जानकारी बनी रहेगी।

अभिधा शब्द की द्वन्द्वपूर्ण वस्तुनिष्ठ शक्ति है तो लक्षणा और व्यंजना उस द्वन्द्वपूर्ण अभिधा शक्ति की अन्तर्दशाओं को, उनके जटिल और सूक्ष्म रूपों को निर्धारित करने वाली शक्तियाँ हैं। शब्द के अगणित बहिर्मूलों को एकनिष्ठ तभी बनाया जा सकता है जब लक्षणा-व्यंजना से उसकी आत्मदशाओं को स्पष्ट कर दिया जाए। क्योंकि लक्षणा और व्यंजना से अभिधेयार्थ अर्थात् वस्तुनिष्ठ यथार्थ अधिक सघन और संश्लिष्ट हो जाता है, बृहद् हो जाता है। इस तरह रचना में अर्थ तत्व, कथ्य तत्व और जीवन तत्व के समाहार और सामंजस्य से शब्द में गरिमा और गाम्भीर्य आता है। भारतेन्दुयुगीन खड़ीबोली की कथ्य-संरचना के मूल में मुख्य अन्तर्विरोध एक ओर तो पूर्ववर्ती भाषाओं में व्यंजित रूपात्मक लालित्य से है दूसरी ओर समकालीनता के संदर्भ मे अंग्रेजी शासन और शोषण से है। इस तरह खड़ी बोली ने परम्परावादी सामंतवाद तथा उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष किया है। खड़ीबोली के प्रत्येक शब्द की रचना का ऐतिहासिक आधार है, प्रत्येक शब्द की रचना का विशिष्ट भौतिक-परिवेश है, और निश्चित सामाजिक परिप्रेक्ष्य है। खड़ीबोली की अभिधा में, लक्षणा और व्यंजना में परिप्रेक्ष्य हीनता दृष्टिगोचर नहीं होती। इस भाषा ने सदैव हो बदलते हुये भौतिक परिवेश को इतिहास में तथा मानव-जीवन को आर्थिक-राजनीतिक, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रूपान्तरित किया है। खड़ीबोली ने सही अर्थ में राष्ट्र के सामाजिक-यथार्थ को मूर्तित किया है।

रचना की वस्तु में सृजनात्मक गुणों की बढ़ोतरी कब होती है ? तथा भाषा के सृजनात्मक-गुणों की समृद्धि कैसे होती है ? इसके लिये वस्तु और भाषा के द्वन्द्वात्मक-सम्बन्धों को समझना होगा। प्रत्येक जीवन्त पदार्थ या वस्तु में अन्तर्विरोध होते हैं। प्रत्येक वस्तु के विकास की अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ होती हैं तथा भविष्य मे सार्थक बने रहने की सभावनायें तभी तक होती हैं जब तक इतिहास और

नगर की विषम जिन्दगी को मुखरित करने की क्षमता थी। उसमें ग्रामों और नगरों के पारस्परिक अन्तर्विरोधों को खोज निकालने की क्षमता थी। खड़ीबोली में ग्रामों की टूटन, नगरों के विलगाव और प्रशासन की जन-विरोधी नीतियों को स्पष्ट करने की क्षमता थी। खड़ीबोली ने मजदूर से लेकर बाबू तक के जीवन के अभावों को वाणी दी, उनके आक्रोश को व्यक्त किया। इस तरह खड़ीबोली की जीवन-चेतना में विरोध और विद्रोह है। खड़ीबोली में आमूल परिवर्तन पैदा कर देने की प्रवृत्ति और तर्क है। समकालीनता और पक्षधरता से उसकी रचना हुई है। खड़ीबोली के मनोभाव तटस्था-बोधक नहीं है। वह तो निहित-अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करने वाली जनभाषा है प्रति-बद्धता में ही उसकी रचनात्मक विवेकशीलता का इज़हार होता है। इस तरह खड़ी बोली समकालीन जन-जीवन की आवश्यकता को व्यक्त करने वाले माध्यम के रूप मे विकसित हुई है। खड़ीबोली आवश्यकता को निरन्तर यथार्थरूप में पेश करने, उसके प्रति सजग करने की सामाजिक संघर्षशीलता के गुण-धर्म को व्यक्त करती है। इस तरह खड़ीबोली स्वतन्त्रता के सामाजिक और लोकजीवी पहलुओं को स्पष्ट करती है।

भाषा को वैश्या बनाकर उसके रूपवैभव को ध्वनिवाद के सहारे व्यंजित करने वाले, भाँड़ों से अधिक महत्व नहीं रखते। और भाषा को बाजारू माल के बहीखाते की तरह प्रयोग करने वाले, उसके अर्थ की खरीद-फ़रोख्त में सम्प्रेषण और मूल्य की चर्चा करनेवाले व्यापारियों से अधिक महत्व नहीं रखते। जब तक शब्द के पैदाइशी कारण को तथा उसमें निहित अर्थ की अनिवार्य-आवश्यकता को समकालीन युगबोध के संदर्भ में तथा सामाजिक-सम्बन्धों के निरन्तर विकासमान संदर्भों में नहीं देखा जाएगा तब तक भाषा की यथार्थ समझ पैदा नहीं हो सकेगी। शब्द को स्वायत्त मानने वाले तथा अर्थ को निरपेक्ष कहने वाले मूर्ख पंडितों से खड़ीबोली के शब्द-विन्यास तथा उसके अर्थ-विस्तार की चर्चा इतिहास के संदर्भ में करनी चाहिये। खड़ी बोली के जन्म की परिस्थितियाँ मनुष्य को मध्ययुग के जीवन से बाहर कर रही थीं। खड़ीबोली इतिहास के वस्तुवाद की उस अग्रिम दशा को व्यक्त करती है जिसमें आधुनिक भारत के लोकजीवन की संभावनायें निहित हैं।

हम कह सकते हैं कि अंग्रेजों के विरोध की प्रथम राजनीतिक प्रतिक्रिया का परिणाम था अठारह सौ सन्तावन का संग्राम—और इसी संग्राम की सांस्कृतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में है भारतेन्दु युग का साहित्य—जिसका माध्यम है खड़ीबोली। सत्रह सौ सन्तावन के प्लासी के युद्ध से अठारह सौ सन्तावन के प्रथम मुक्ति संग्राम तक की आन्दोलनकारी-क्रान्तिकारी लोकचेतना को व्यक्त किया है—खड़ीबोली के साहित्य ने। इस तरह भारतेन्दु युग के समकालीन बोध में है संघर्ष—और इसी संघर्ष को व्यक्त करने वाली भाषा है खड़ीबोली।

भाषा निरन्तर विकसित होती हुई बृहद् जीवनचेतना की मूर्तिविधायक शक्ति,

होती है। जीवन-शक्ति के रूप में भाषा हमेशा युग के द्वन्द्वात्मक पहलुओं को व्यक्त करती है, उसमें भौतिक परिवेश और समाज की वस्तुपरक स्थितियों का द्वन्द्वात्मक मथन होता है उसके बाद ही आत्मसंश्लिष्टता आती है, विश्वजनीनता आती है, जिससे प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ-परिवेश निर्धारित होता है। इसी द्वन्द्वात्मक क्रम में अर्थ के सभावित रूपों और पहलुओं की व्यंजना होती है, जिससे शब्द लचकदार बनते हैं। इसी द्वन्द्ववाद के द्वारा शब्द अपने अभिधा कक्ष के गुण-धर्म को लक्षणा और व्यंजना के जटिल और सूक्ष्म मार्गों पर ले जाता है। लेकिन मार्ग की लम्बाई कितनी है ? गन्तव्य कहाँ है ? यह दृष्टि अभिधा-परिवेश से ही बनती है, क्योंकि जिस सृजन के स्रोत ज्ञात हैं ? कारणत्व-बोध स्पष्ट है तो उसको व्यक्त करने वाले माध्यम की वस्तु-निष्ठ-आत्मनिष्ठ एकतानता बनी रहेगी। उसके भीतर घटित होने वाले परिवर्तनों की गुणात्मक जानकारी बनी रहेगी।

अभिधा शब्द की द्वन्द्वपूर्ण वस्तुनिष्ठ शक्ति है तो लक्षणा और व्यंजना उस द्वन्द्वपूर्ण अभिधा शक्ति की अन्तर्दशाओं को, उनके जटिल और सूक्ष्म रूपों को निर्धारित करने वाली शक्तियाँ हैं। शब्द के अगणित बहिर्मूलों को एकनिष्ठ तभी बनाया जा सकता है जब लक्षणा-व्यंजना से उसकी आत्मदशाओं को स्पष्ट कर दिया जाए। क्योंकि लक्षणा और व्यंजना से अभिधेयार्थ अर्थात् वस्तुनिष्ठ यथार्थ अधिक सघन और संश्लिष्ट हो जाता है, बृहद् हो जाता है। इस तरह रचना में अर्थ तत्व, कथ्य तत्व और जीवन तत्व के समाहार और सामंजस्य से शब्द में गरिमा और गाम्भीर्य आता है। भारतेन्दुयुगीन खड़ीबोली की कथ्य-संरचना के मूल में मुख्य अन्तर्विरोध एक ओर तो पूर्ववर्ती भाषाओं में व्यंजित रूपात्मक लालित्य से है दूसरी ओर समकालीनता के संदर्भ मे अंग्रेजी शासन और शोषण से है। इस तरह खड़ी बोली ने परम्परावादी सामंतवाद तथा उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष किया है। खड़ीबोली के प्रत्येक शब्द की रचना का ऐतिहासिक आधार है, प्रत्येक शब्द की रचना का विशिष्ट भौतिक-परिवेश है, और निश्चित सामाजिक परिप्रेक्ष्य है। खड़ीबोली की अभिधा में, लक्षणा और व्यंजना में परिप्रेक्ष्य हीनता दृष्टिगोचर नहीं होती। इस भाषा ने सदैव हर बदलते हुये भौतिक परिवेश को इतिहास में तथा मानव-जीवन को आर्थिक-राजनीतिक, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रूपान्तरित किया है। खड़ीबोली ने सही अर्थ में राष्ट्र के सामा-जिक-यथार्थ को मूर्तित किया है।

रचना की वस्तु में सृजनात्मक गुणों की बढ़ोतरी कब होती है ? तथा भाषा के सृजनात्मक-गुणों की समृद्धि कैसे होती है ? इसके लिये वस्तु और भाषा के द्वन्द्वात्मक-सम्बन्धों को समझना होगा। प्रत्येक जीवन्त पदार्थ या वस्तु में अन्तर्विरोध होते हैं। प्रत्येक वस्तु के विकास की अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ होती हैं तथा भविष्य में सार्थक बने रहने की सम्भावनायें तभी तक होती है जब तक इतिहास और

वर्तमान के नैरन्तर्य्य में अन्तर्बाह्य-संघर्षशीलता रहती है—इस तरह प्रत्येक वस्तु सापेक्षिक सम्बन्धों के विकास को स्पष्ट करती है—यदि उसकी अन्तश्चेतना में वर्तमान को अधिकाधिक रूपों में ग्रहण करके भविष्य की ओर ले चलने की ताकत नहीं है तो वह शिथिल हो जायेगी और निरपेक्ष हो जायेगी। वह अतीत की और परम्परा की स्मृति बनकर रह जाएगी। उसका रूपात्मक विकास भी रुक जाएगा। वह विकास की प्रक्रिया से विमुख तथा भविष्य की संभावना से रहित हो जाएगी। अत: ऐतिहासिक वस्तुवाद के द्वन्द्वात्मक नियमों से पता चलता है कि वस्तु में निहित अन्तर्विरोध इतिहास-वर्तमान और भविष्य की संगति में रहते हैं। यह अन्तर्विरोध वस्तु की द्वन्द्वात्मक जीवन्तता के पर्याय होते हैं। वस्तु की सक्रियता के द्योतक होते है। इन्हीं से उत्प्रेरित होकर वस्तु के नये और उन्नत रूपमानों-प्रतिमानों का सृजन होता है। नया तेज, नई भंगिमा पैदा होती है। अत: वस्तु में जैसे-जैसे मानव जीवन की जटिलतायें समाने लगती हैं वैसे-वैसे उसकी अभिव्यक्ति-लक्षणा-व्यंजना मिश्रित होने लगती है।

सामाजिक सम्बन्धों के सृजन के स्तरों पर एक ही शब्द में जीवन के ललित, नैतिक, कानूनी, न्यायिक आदि पहलुओं का सामंजस्य होने लगता है। इस तरह शब्द और अर्थ के संदर्भ निश्चित करने का कार्य वस्तु की परिस्थिति सापेक्ष प्राथमिकताओं और अनिवार्यताओं के तहत होता है। यह कथ्य या वस्तु की द्वन्द्वात्मकता है जिससे प्राथमिक आवश्यकताओं और अनिवार्यताओं को सृजनशील विवेक में उतारा जाता है। और रचना प्रासंगिक और जरूरी होने लगती है। समकालीनता से रहित कथ्य की द्वन्द्वात्मकता क्षीण होती है, उसमें जीवन को उन्नत रूपों में आगे बढ़ाने की स्फूर्ति नहीं होती। ऐसी हालत में कथ्य के सरोकार भी उत्सवधर्मी मुहावरों के रूप-सौष्ठव का विषय बन जाते हैं।

इस तरह द्वन्द्वात्मक नियमों के आश्रय में ही सृजन के उन्नत रूपों का जन्म होता है। खड़ीबोली की रचना में मानव के सामाजिक सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मक विकासशीलता के चित्र निर्मित हुये हैं। भारतेन्दुयुगीन रचना में तत्कालीन राजसत्ता के चरित्र की अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि राजनीति की चेतना से मुक्त कथ्य धीरे-धीरे लोक-जीवन की प्राणवान परम्पराओं से हटने लगता है, वह रूढ़ होने लगता है। भारतेन्दु युग के कथ्यों में राजसत्ता की छवि सघन है इसीलिये लोकचेतना में तात्कालिक प्रतिक्रिया भी अधिक ठोस है। भारतेन्दु युग की कथ्य रचना तत्कालीन राजसत्ता के विमुख नहीं है। इसीलिये उस युग के साहित्यिक संदर्भ और दृष्टांत एकांगी, खडित और इकहरे नहीं हैं। उस युग के कथ्य-संवेदन में इतिहास तत्व विद्यमान है, इसीलिये उनकी प्रकृति यथार्थवादी है और उसकी क्रियाशील चेतना को दिशा देने का कार्य राजनीति करती है। यह राजनीति दृष्टि है जो कथ्य के संवेदन को, उसकी समग्र गुणचेतना को मनोगत आदर्शवादी माईथालाजी का विषय नहीं बनने देती, उसे अमूर्त और निर्गुण नहीं होने देती।

साहित्य के इतिहास-दर्शन में उक्त स्थापना-दृष्टि से ही किसी भी विशिष्ट युग का, विशिष्ट धारा और विशिष्ट कवि या कलाकार का मूल्यांकन किया जा सकता है। भारतेन्दु युग के साहित्य की मुख्यधारा के निर्माण की परिस्थितियों को देखना चाहिये इस युग के साहित्य की मुख्यधारा में संघर्ष और सुधार का सामंजस्य है। इस युग के साहित्यकार अपने सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दायित्व के प्रति बेखबर नहीं थे। उन्होने राष्ट्र की गुलामी तथा सांस्कृतिक पिछड़ के विरुद्ध रचनायें लिखी। इस युग के साहित्य मे असहमति और प्रतिवाद की शैली विकसित हो चुकी थी। साहित्य में विरोध की शैली के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। उन्होंने यथास्थिति को तोड़ने का प्रयत्न किया। पोंगा-पंडितों के नियम-धर्म-कर्म पर तीखा प्रहार किया तथा अंग्रेजी शोषण के विरुद्ध क्रान्तिकारी विचार को आगे बढ़ाया।

भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन नहीं अंग्रेज़॥

\+ \+ \+

मरी बुलाऊँ, देस उजाड़ूँ, महंगा करके अन्न,
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ-धन है मुझको धन्न
मुझे तुम सहजन जानो जी, मुझे एक राक्षस मानो जी………

भारतेन्दु युग के खड़ीबोली-साहित्य में "स्वतंत्रता" को राष्ट्रीय संस्कृति की पक्षधरता के अर्थ में तथा उपनिवेषवाद, साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के अर्थ मे देखा गया। इसके अतिरिक्त, खड़ीबोली ने नस्ल-जाति-सम्प्रदाय के भेदों को समाप्त करने का प्रयत्न किया और क्षेत्रीयता की भावना को धीरे-धीरे राष्ट्रीय भावना मे उतारने का प्रयत्न किया। खड़ीबोली ने सामंती-युग के आत्मपरक भ्रमों को अस्वीकार किया तथा रीतिकालीन विलासिता, विकृति को अस्वीकार किया। खड़ीबोली के जीवन मे बदलते हुये समाज की यथार्थ तथा सामूहिक कर्म की चेतना विधान है। भारतेन्दु युग की खड़ीबोली में यह संकेत है कि आने वाले समय में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक-संघर्ष होगा। साहित्य में प्रतिबद्ध होने की प्रथम जानकारी भारतेन्दुयुग की खडीबोली से हो जाती है।

\+ \+ \+

अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (१८८५) के जन्म से पहले तक अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भारतीयों की राजनीतिक प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष थी। उस पर अठारह सौ सन्तावन की छाप थी। उसमें सीधे हस्तक्षेप की माँग थी। लेकिन जननेतृत्व विभक्त था। वह सामंती व्यवस्था का था। हिन्दू-मुसलमान, राजा-महाराजा-नवाब की क्षेत्रीय सीमाओं तक प्रभावी था। इसके अतिरिक्त मध्ययुगीन जीवन-दर्शन वाले सामंती समाज मे विरोध प्रकट करने तथा संघर्ष करने की प्रवृत्ति नही थी। अशिक्षा अन्धविश्वासो,

भूतों-प्रेतों-दैवीय आत्माओं में आश्वस्त समाज का आचरण अरचनात्मक था। उसकी आर्थिक महत्वाकांक्षायें दमित तथा अराजनीतिक थीं, उसके मन पर माईथालाजी का प्रभुत्व था। संस्कृति की दृष्टि से समूचा समाज ही आत्मनिर्वासित था, वह भाग्य-फलाश्रित था, पुनर्जन्म के सुख में आश्वस्त था। इस तरह अंग्रेजी साम्राज्यवाद के वास्तविक विरोध के लिये जन-आधार जुझारू नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी साहित्यकारों ने जनता के बौद्धिक आचरण को बदलने की प्रारम्भिक कोशिश की। खड़ीबोली की जनस्वीकृति इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि भारतेन्दु युग ने साहित्य में समकालीन यथार्थ को अर्थात् सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक संघर्ष को आगे बढ़ाया।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद भी भारतीयों की सीधी हस्तक्षेप की नीति के विरुद्ध था। अतः उसने प्रशासन में कूटनीति से कार्य किया। एक ओर महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र को खूब प्रचारित किया जिसमें भारतीयों की स्थिति को सुधारने तथा भारतीयों के जीवन को सुसंस्कृत करने तथा उन्हें सुखमय जीवन देने का वायदा किया गया था। दूसरी ओर उन्होंने अपने ढङ्ग की जमींदारी प्रथा को बढ़ावा दिया जिससे गाँव के अर्थतन्त्र पर नगर के प्रशासन का सीधा सम्बन्ध हो गया। इसके अतिरिक्त कुछ रियासतों-रजवाड़ों को अपने शासन में मिला लिया तथा कुछ को अपनी राजनीति का क्रीत दास बनाकर छोड़ दिया। इससे भी आगे बढ़कर ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली की उदारवादी नीतियों का ढिंढोरा पीटा गया और अंग्रेजी पढ़े-लिखे-संभ्रान्त लोगों को आकर्षित करने के लिए अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के लिए पहल की गयी। अंग्रेजों ने उन लोगों को अतिरिक्त महत्व दिया जिनका जनता में प्रभाव था और जो हर हालत में उनके हितों की रक्षा करने में तत्पर थे। ए० ओ० ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना के पीछे इसी उद्देश्य को ध्यान में रखा था कि नव-धनाढ्य तथा नव-शिक्षित वर्ग से प्रशासन का सीधा सम्बन्ध बनाया जाए। ऐसा करने से प्रशासन लोकप्रिय होगा तथा साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध आवाज को जनाधार नहीं मिल सकेगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारतीय वर्ग के नव-धनाढ्यों का जन्म हो चुका था। उनकी पूंजी बन चुकी थी। वे उद्योगपति बनने लगे थे। उनकी आर्थिक महत्वाकांक्षायें प्रबल थीं अतः अंग्रेजी शासन का विरोध लाज़मी हो रहा था। ऐसी हालत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद तथा देशी पूंजीवाद का अन्तर्विरोध बढ़ने लगा। अंग्रेजों को चिन्ता थी कि देशी पूंजीवाद का जनाधार मजबूत न हो अर्थात् उसमें राजनीतिक-विचारधारा का विकास न हो इसलिए अंग्रेजों ने जनता की राष्ट्रीय भावना को निर्ममता-पूर्वक कुचलने में कहीं कोई कसर नहीं रखी। ऐसा करने के लिये अंग्रेजी ने देशी-पूंजी-वाद से समझौता भी किया। भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म से अंग्रेजी शासन मे

सुधारवाद का तथा राष्ट्रीय राजनीति में रिनासा का दौर शुरू हुआ। राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म तत्कालीन राजनीतिक वातावरण के उस अन्तर्विरोध से हुआ है जिसमें अंग्रेजो से भारतीय जनता के सीधे सामना करने की परिस्थितियाँ पैदा हो रही थीं। राष्ट्रीय कांग्रेस ने जन-नेतृत्व किया तथा संघर्ष-मार्ग को समझौते के मार्ग में बदल दिया। राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटिश-संसद के उदारवादी-प्रजातन्त्र की लफ्फ़ाज़ी का सहारा लेकर जनता के आक्रोश को, उसके विरोध को शिथिला दिया। यहीं से भारत की राष्ट्रीय राजनीति मे अनुभववादी विचारदर्शन का जन्म होता है जो राष्ट्रीय कांग्रेस की रीति-नीत और आचरण में फबने लगता है। अनुभववादी विचारदर्शन पर आधारित ब्रिटिश संसद और संविधान की उदात्त यूतोपिया से प्रभावित होकर राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं और कार्यकर्ताओं ने अपनी राजनीतिक संस्कृति को रचा और स्वयं को गौरवान्वित किया। फलस्वरूप इन कांग्रेसियों में ब्रिटिश संसदीय शैली का अभिजात्य आ गया। इन सभी नेताओं के अपने आर्थिक हित थे तथा राजनीतिक महत्वाकांक्षायें थीं लेकिन इनके पास जनता की हमदर्दी के लिये भावुकतापूर्ण खोखले आश्वासन थे। इन आश्वासनो की पूर्ति के लिये सभी नेता ईमानदार तो थे लेकिन प्रतिबद्ध नहीं थे। राष्ट्रीय काग्रेस पर नव-धनाढ्यो और नव-शिक्षितों का अधिपत्य था। वह इज्जतदारों की राष्ट्रीय संस्था थी। उस पर अंग्रजों की मोहर लगी थी। भारत की सामन्ती-व्यवस्था से उत्पन्न नवोदित राष्ट्रीय पूंजीवाद की पहल राष्ट्रीय कांग्रेस ने की थी। अतः उसके उद्देश्य स्पष्ट थे। उसके सरोकार जतना से न थे उसका यथार्थ समाज का न था, उसका अर्थशास्त्र जनहित से प्रेरित न था।

रजनी पामदत्त ने स्थिति का जायजा लेते हुये कहा है—"भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन यहाँ की सामाजिक परिस्थितियों से, साम्राज्यवाद की परिस्थितियों और उसकी शोषण प्रणाली से पैदा हुआ है। वह उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियो से पैदा हुआ है जो इस शोषण के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हो गई हैं। उनके पैदा होने का कारण यह है कि भारत में पूंजीपति वर्ग का उदय हो चुका है। और चाहे शिक्षा की कैसी भी व्यवस्था क्यों न होती ब्रिटिश पूंजीपति-वर्ग के प्रभुत्व के साथ उसकी प्रतिस्पर्धा अनिवार्य थी। यदि भारत के पूंजीपति वर्ग ने केवल संस्कृत में लिखे वेदो का अध्ययन किया होता अथवा सभी तरह की विचारधारों से अलग हटकर मठों में ज्ञान प्राप्त किया होता तो निश्चय ही उसे संस्कृत वेदों में भी अपनी आजादी के संघर्ष की प्रेरणा से भरपूर सिद्धान्त मिल जाते।...साम्राज्यवाद की समूची प्रणाली में निहित अन्तर्विरोधों का ही यह परिणाम था कि शिक्षा की जो पद्धति कुशल साम्राज्यवादी प्रशासन के लिए थोपी गयी थी उसी ने भारत के लोगों के लिये इंग्लैण्ड के जनतांत्रिक और लोकप्रिय आन्दोलनों तथा जनसंघर्षों से भारत में चल रहे अत्याचारों की ही तर के अत्याचारों से लड़ रहे मिल्टन, शेली तथा बायरन जैसे कवियों से प्रेरणा प्राप्त करने का भी रास्ता खोल दिया। (आज का भारत—पृष्ठ ३१४-३१५)

भारत के राष्ट्रीय पूंजीवाद की लड़ाई अंग्रेजी साम्राज्यवाद से छिड़ चुकी थी। दोनों के आर्थिक हितों में शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध थे। यह ठीक है कि राजसत्ता अंग्रेजो की थी परन्तु जनआधार राष्ट्रीय उद्योगपतियों का था। अंग्रेजों ने जैसे-जैसे भारतीय जनता का दमन किया वैसे-वैसे भारत के राष्ट्रीय पूंजीवाद का नेतृत्व लोकप्रिय होता गया। इसीलिये राष्ट्रीय पूंजी का नेतृत्व करने वाले राष्ट्रनेताओं ने अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने के लिये विशिष्ट प्रकार के संघर्ष की संस्कृति और शिक्षरण पर ध्यान दिया। लड़ाई मध्य-युग के सामन्ती जीवन-दर्शन और सिद्धान्तों से नहीं लड़ी जा सकती थी। अतः सांस्कृतिक नव-जागरण की आवश्यकता हुई। जनता के नैतिक चरित्र में पुनरुत्थानवादी मूल्यों तथा नवजागरणवादी मूल्यों को प्राथमिकता दी जाने लगी।

इन नवोदित रिनासा की राजनीतिक पहल अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने की तथा धार्मिक-नैतिक-शैक्षणिक क्षेत्रों में आचार्यो-सुधारकों, स्वामियों, सन्तों और कवियों ने भाग लिया। ध्यान देने की बात है कि रिनासा के राजनीतिक पहलू उदार थे तथा शेष पहलू अपेक्षाकृत अधिक उग्रवादी थे। वैसे सुधारवादी आन्दोलनों की प्रकृति उग्र नहीं हुआ करती है। राजा राममोहनराय तथा उनकी ब्रह्मसमाज से लेकर एनी-बेसेन्ट और थ्योसाफ़िकल समाज, दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज, रामकृष्ण-विवेकानन्द के मिशन, अरविन्द रविन्द्र टैगोर आदि में पुनरुत्थान और नवजागरण की जो चेतना व्याप्त थी उसमें मध्ययुगीन सामन्ती जीवन-दर्शन और नवयुगीन राष्ट्रीय पूंजी-वाद के जीवनदर्शन में समझौतों का आधार मजबूत था। इसमें एक ओर हिन्दू पुन-रुत्थानवाद की साम्प्रदायिकता भी है तो दूसरी ओर हिन्दू-मुस्लिम एकता के नवपूंजीवादी प्रगतिशील आदर्श भी है। एक ओर प्राचीन दर्शन और धर्म की नैतिक दृष्टि है तो दूसरी ओर सर्वधर्म समन्वय का आदर्श भी है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की राष्ट्रीय कांग्रेस में गोखले-गाँधी का उदारवाद तथा लाल-बाल-पाल का उग्रवाद कुल मिलाकर पुनरुत्थान और नवजागरण के राजनीतिक-आर्थिक पहलुओं की वास्तविकता को स्पष्ट करते हैं।

अब संस्कृति और इतिहास पर नये ढंग से विचार आरम्भ हुआ। उद्योग-विज्ञान-तकनालाजी की भौतिक शक्ति ने मनुष्य के व्यक्तित्व पर विजय पा ली थी। भारतीय समाज इससे अछूता नहीं रह सकता था। भारत में यह यह पूंजीवादी-सभ्यता के विकास का युग था, उसमें पर्याप्त शक्ति और आकर्षण था। उसकी संस्कृति-दृष्टि प्रगतिशील थी। अतः राष्ट्रीय चेतना के निर्माणकाल में पूंजीवादी-संस्कृति में आस्था थी। लेकिन पश्चिमी जीवन में पूंजीवादी-व्यवस्था का विरोध हो रहा था। १९१७ में रूस मे समाजवादी क्रान्ति हुई और हर प्रकार के शोषण से समाज को मुक्ति मिली। रूस की समाजवादी क्रान्ति ने यह सिद्ध कर दिया कि उद्योग-विज्ञान-तकनालाजी के विकास से नये प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों की बुनियादें मजबूत हुई हैं जनगण के वैज्ञानिक संस्कार

विकसित हुये हैं, वह अपने भौतिक-आर्थिक हितों के प्रति सजग है तथा उनकी रक्षा के लिये सक्रिय होकर राजनीति को अपने अनुकूल बनाने में लगा है। रूस की समाजवादी क्रान्ति पश्चिमी पूंजीवादी व्यवस्था के आंतरिक अन्तर्विरोधों का ऐतिहासिक परिणाम थी। मानव संस्कारों के वैज्ञानिकीकरण का अर्थ उसके उस वस्तुनिष्ठ-व्यक्तित्व से है जिसमें सामाजिक-श्रम की रचनात्मकता संश्लिष्ट होकर समग्ररूप में विधान हो जाती है। समाजवादी क्रांति ने मनुष्य में विज्ञान के संस्कारों की अपार सम्भावनाये पैदा कर दीं और पूंजीवाद में निहित अगणित शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधों का समाधान कर दिया। सामाजवादी व्यवस्था ने विज्ञान को समूचे सामाजिक जीवन की रचना का आधार दे दिया। रूस की क्रान्ति ने इस तरह पूंजीवाद का विकल्प पेश किया, फलस्वरूप पूंजीवादी देशों के मालिक और राजनेता घबरा गये। सीधा सा गणित है कि उद्योग-विज्ञान-तकनालाजी का जन्म मनुष्य के श्रम से हुआ लेकिन उसका संस्कार और सस्कृति श्रमिक की नहीं बन सकी। उत्पादक-सर्जक श्रमिक अपने ही कर्म की संस्कृति से वंचित रह गया, आत्मनिर्वासित सा हो गया। अतः इसके विरुद्ध संघर्ष होना लाजमी था। रूस में यह संघर्ष हुआ। जिन देशों में इस संघर्ष को बलात् रोक दिया गया वहाँ के संस्कार और संस्कृति में कीड़े पड़ गये—अपराध के कीटाणुओं ने समाज को जर्जर कर दिया (इसी कुन्ठा के कारण आज का पूंजीवादी पश्चिम हथियारों की दौड़ में—युद्ध की धौंसपट्टी में लगा है—वह क्रूर और अमानवीय होकर झूठ पर झूठ बोलने को मजबूर हो गया है। उसके जीवन में आकस्मिकताओं का महत्व बढ़ गया है। उसका आचरण जिद्दियों, सनकियों जैसा हो गया है, युद्ध करना उसकी मजबूरी हो गया है।)

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में साफ दिखाई देता है कि हर पुनरुत्थानवादी और नवजागरणवादी ने नये युग के विज्ञान और नये प्रकार के सामाजिक सम्बन्धो की रचना करने वाले अर्थशास्त्र पर टिप्पणियाँ की हैं। इसकी टिप्पणियों का सार है कि एक ओर तो मध्ययुगीन मान्यताओं से बाहर निकला जाये तो दूसरी ओर अतीत की स्वर्णकालीन आदर्श-भावना का अनुकरण किया जाए। ये सभी मध्ययुग के मृतप्राय सामतवाद के विरोधी थे जिसे अंग्रेजों ने भी तोड़-फोड़कर जर्जर कर दिया था लेकिन प्राचीन किस्म की राजशाही के गौरव की स्मृति करते थे जिसमें आर्यत्व का, ब्राह्मणत्व का, हिन्दुत्व का प्रभुत्व और ऐश्वर्य था। इसीलिये रिनासा के स्वामियो और आचार्यों की टिप्पणियाँ अन्तर्विरोधों से भरी पड़ी हैं। ये सभी समन्वयवादी थे। समन्वयववाद की विशेषता है कि उसमें अन्तर्विरोधों को गौरवान्वित कर दिया जाता है। लेकिन यह कार्य यथार्थवादी नहीं होता। और भारतीय रिनासा के इस चरित्र से राष्ट्रीय पूँजीवाद को पूरा-पूरा लाभ मिला। उसे समन्वयवादी राजनेता मिले तथा आज्ञाकारी जनाधार मिला, जिन्होंने अंग्रेजी राजसत्ता का विरोध किया। भारतीय सामाजिक जीवन में विज्ञान का असर न पड़े इसके लिए गांधी जी जैसे दुनिया घूमे हुये व्यक्ति ने भी अपनी प्रतिभा का खूब

दूसरे दशक के बाद भारतीय प्रेस का चरित्र बदल रहा था। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में आन्दोलन की सशक्त अभिव्यक्ति हो रही थी। हिन्दी तथा अन्य भाषाओ के पत्रों के तेवर देखने लायक थे। कांग्रेस की गाँधीवादी नीति तथा वामनैतिकता की तुलना की जाने लगी थी। राष्ट्रीय राजनीति को वैज्ञानिक अर्थ में ग्रहण करने की दलीले दी जाने लगी थी अर्थात् रिनासा-उद्देश्यों "आत्मा की पुकार", "हृदय परिवर्तन" के ढकोसलों पर व्यंग्य किये जाने लगे थे। सम्प्रदायवाद के विरुद्ध वर्गीय-दृष्टिकोण से सोचा जाने लगा था। इन पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी साम्राज्यवाद तथा देशी-पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज़ उठ रही थी। ऐसी हालत में अंग्रेजों ने कम्युनिस्टों के विरुद्ध घोर दमन किया और उनके इस कार्य में देशी-पूँजीवाद ने भरपूर सहयोग दिया।

हिन्दी के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन (१६३६) की भूमिका में भारतीय समाज की वस्तुपरक परिस्थितियाँ कितनी क्रान्तिकारी थीं, देश के राजनीतिक वातावरण मे क्रान्ति, स्वतन्त्रता, समाजवाद, प्रजातन्त्र की आवाजें गूँज रही थी। यह समय अहिंसक नहीं था। बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ दी गईं। बंगाली भाषा और साहित्य में गोर्की लोकप्रिय हो चुके थे। ऐसे समय पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक संघ के उद्देश्यों के अनुरूप प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में बैठक हुई। प्रेमचन्द अपने आदर्शवादी रिनासा संस्कारों से मुक्त होकर समाजवादी-यथार्थवाद के पक्षधर बन गये थे। गाँधीवादी-यूतोपिया से निकल गये थे और महाजनी-सभ्यता पर आक्रमण कर रहे थे। यहीं से "हंस" पत्रिका की विचारधारा के युग का आरम्भ होता है। इसी समय १६३७ मे "जीवन-साहित्य संघम" का केरल में संगठन हुआ जिसमें "सामाजिक प्रगति के लिए सर्वहारा-दर्शन और उसके सहयोगी तत्वों को प्राप्त" करने की माँग की गई।

वातावरण इतना क्रान्तिकारी था कि छायावादी रचनाकार भी अपने 'अह' और 'रहस्यवाद' से बाहर आकर वामचिंतन और सर्वहारा-जीवन के सहयोगी बनने में गौरव का अनुभव कर रहे थे। जयशंकर प्रसाद जैसे दार्शनिक रचनाकार ने अपने उपन्यास कंकाल में प्रकृतिवादी ढंग से जातीय संस्कृति की समूची बायलॉजी पर तीखा प्रहार किया। यह डार्विन के प्रकृतिवाद की ओर से किया गया आक्रमण था जिसने उस युग में तहलका मचा दिया था। इस उपन्यास ने पुनरुत्थानवादी-नैतिकता को हिला दिया था। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने अपने उपन्यास साहित्य में उपेक्षित समाज को सहानुभूति दी। अनेक कविताओं में किसान-मजदूर के श्रम को, उनके सामाजिक सम्बन्धों के यथार्थ को व्यक्त किया। अनामिका से लेकर बेला, नये पत्ते और कुकुरमुत्ता तक निराला की कविता में प्रगतिशील-विचार का विकास दिखाई देता है। कुकुरमुत्ता में पूँजीवादी विसंगति को स्पष्ट करते हुये जनवादी प्रगति का ऐलान किया है। उन्होंने [illegible]ष्ट्रीय कांग्रेस के उदारपंथी नेताओं पर मुख्य रूप से पं० [illegible] नेहरू पर व्यंग्य
[illegible] निराला ने [illegible]

मार्क्सवादी नहीं थे लेकिन अपने युग तक की समाजवादी-राजनीतिक हलचलों को आत्मसात कर चुके थे। उनकी रचनाओं में उच्चकोटि की भाव-प्रधान सक्रियता मिलती है। निराला ने प्रेमचन्द की तरह समाजवाद को विज्ञान के अर्थ में नहीं देखा था।

निराला की अपेक्षा सुमित्रानन्दन पंत ने मार्क्सवाद के प्रभाव को प्रत्यक्षतः स्वीकार किया है। लेकिन मार्क्सवादी नैतिकता के पीछे जीवन के वैज्ञानिक-दृष्टिकोण का जो ठोस और वस्तुपरक आधार है उसका पंत के भावुक-व्यक्तित्व में नितान्त अभाव रहा है। पंत अनेक प्रकार के प्रभावों के कवि रहे हैं। उनमें निजी महत्वाकांक्षाएँ प्रबल रही हैं, वे समझौतों में विश्वास करते रहे हैं। इसीलिए उनकी रचना-यात्रा में अनेक पडाव मिलते हैं। उन्होंने मार्क्सवाद को एक लोकप्रिय उमंग के रूप में ग्रहण किया था, क्योंकि उमंगें क्षणिक होती हैं इसलिए वे सैलानी अनुभूतिकार के रूप में किनारे-किनारे भटकते रहे हैं। वे निराला की तरह खड़ी-बोली में जनवाद की स्फूर्ति पैदा नहीं कर सके। इस समय छायावाद के अनेक अप्रमुख रचनाकार राष्ट्रीय वाम चेतना के करीब आ गये थे।

हिन्दी की प्रगतिवादी काव्य-धारा का यथार्थ विश्लेषण नहीं हुआ है। उसे सम-सामयिक राजनीति के संदर्भ से अलग कर दिया जाता है। उसकी कलात्मक-उपलब्धियो को निरपेक्षतावादियों की तरह मूल्यांकित किया जाता रहा है। जिस तरह द्विवेदी-युग की रचना अपने ऐतिहासिक-सामाजिक परिवेश की अभिव्यक्ति थी, उसी तरह प्रगतिवादी रचना भी अपने समूचे ऐतिहासिक-सामाजिक परिवेश की द्वन्द्वात्मक गति को, उसकी उन्नत अवस्थाओं को व्यक्त कर रही थी। चूंकि उस समय तक राष्ट्रीय, राजनीतिक, आर्थिक संघर्षों से निर्मित कोई स्पष्ट रचना-दृष्टि नहीं थी, कोई सिद्धान्त या प्रतिमान नही बन सका था, इसलिए प्रगतिवादी काव्यान्दोलन को राष्ट्रीय जीवन धारा के अर्थ मे स्वीकार करने की दिक्कत आती रही। इस विचार की कविता का मूल्यांकन भी परम्परावादी-रस-ध्वनि-अलंकार के द्वारा किया गया है। पुनरुत्थानवादियों और नव-जागरणवादियों ने इस काव्यान्दोलन की वैज्ञानिक दृष्टि को, उसके समकालीन यथार्थ को न समझकर उसे अराष्ट्रीय घोषित कर दिया। इसके अतिरिक्त उस समय तक शुक्ल जी की लोक-मंगलवादी रिनासा-समाज की सोद्देश्यमूलक-समीक्षा शैली का प्रभाव था तथा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का विकास हो रहा था, इसलिए प्रगतिवादी-चिंतन एकदम अलग थलग पड़ गया था।

रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ने प्रगतिवादा समीक्षा के रचना-सिद्धान्तों को स्पष्ट करने की कोशिश की लेकिन इनके आपसी मत-भेदो के कारण यह कार्य विस्तृत रूप नहीं ले सका। और फिर इस समय तक रचना और समीक्षा में आधुनिकतावादियों का तथा सोशलडेमाक्रेट्स का प्रवेश हो चुका था जिन्होंने प्रगतिवादी-काव्य-चिंतन पर जमकर आक्रमण किया समूचे देश में चौथे दशक

पंथियों की पकड़ ढ़ीली पड़ने लगी। रिनासा-राजनीति में मोड़ आने लगा। स्वतंत्रता और प्रजातंत्र की माँग बढ़ने लगी। गाँधीजी को भी नई पीढ़ी के अनुकूल होना पड़ा। अब कांग्रेस में नई स्फूर्ति पैदा हो गयी थी, उसका जनाधार भिन्न प्रकार के संघर्ष से लैस था। सभी प्रान्तों में स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के लिये आन्दोलन तेज होने लगे। समूचे भारत के उद्योगों में कार्यरत मजदूर, गाँवों के किसान तथा कर्मचारी, सैनिक, वकील, प्राध्यापक तथा छात्र वर्ग, जनआन्दोलन की ओर बढ़ने लगा। इस तरह नेहरू और सुभाष इन्कलाब और समाजवाद के नारे को लेकर कांग्रेस में घुसे थे। कांग्रेस के बाहर एक विचारधारा थी जो पंजाब से बंगाल तक देश की राजनीति में सक्रिय थी। चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह, रामप्रसाद बिस्मिल आदि ने क्रान्तिकारी संघर्ष छेड़ रखा था। यद्यपि, प्रारम्भ में इनके कार्य क्रान्तिकारी अराजकतावादियों जैसे थे लेकिन बाद मे इस वर्ग के अधिकांश व्यक्ति समाजवादी-दर्शन से प्रेरित होने लगे थे। भगतसिंह ने रूस की समाजवादी क्रांति के आदर्शों के अनुकूल "हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सोशलिस्ट पार्टी" की स्थापना की थी। और घोषित किया था कि "हमारा राष्ट्र संगठित मजदूरों, किसानों तथा साधारण जनता की शक्ति के बूते पर ही सफल संघर्ष चला सकता है।"

इस तथ्य को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता कि जैसे-जैसे किसान और मजदूर संगठित होकर राष्ट्रीय-आन्दोलन में अपनी पक्षधरता और प्रतिबद्धता स्पष्ट करने लगे, छात्र और कर्मचारी वर्ग भी सम्बद्ध होने लगा वैसे-वैसे आन्दोलन में मार्क्सवादी-समाजवादी प्रभाव बढ़ने लगा। कांग्रेस के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन में धीरे-धीरे मार्क्सवादी-क्रान्ति का तेज भरने लगा। फलस्वरूप, अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में अन्तर्विरोध पैदा हो गये। इसी समय से नेहरू के प्रजातंत्री-समाजवादी आदर्श भी अनुभववादी होने लगे, मार्क्सवादी प्रभाव उड़ने लगा। कुछ दिन बाद सुभाष भी एक सेनानायक होकर राष्ट्रीय संघर्ष की प्रचलित धारा से अलग हो गये। राष्ट्रीय आन्दोलन में जटिलता आ गयी थी। एक ओर तो गांधीवादी रिनासा दृष्टि थी तो दूसरी ओर नेहरू के अनुभववादी उदार प्रजातंत्री विचार थे तो तीसरी ओर मार्क्सवादी विचारधारा का बढ़ता हुआ प्रभाव था। अब आन्दोलनों की प्रकृति भी जटिल हो गयी थी, उनमें विचारधारात्मक-संघर्ष छिड़ गया था। अंग्रेजी साम्राज्यवाद से मुक्त होने का लक्ष्य तो सबका था लेकिन आजादी के बाद राजसत्ता का चरित्र कैसा हो ? यह प्रश्न भी प्रमुख हो चुका था। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय-पूंजीवाद ने कांग्रेस को पाक-साफ करने के लिये अनेक कूटनीतिक प्रयास किये। कई बार तो साम्राज्यवाद से दोस्ती भी की, ऐसी दोस्ती कि जिसने साम्राज्यवाद विरोध की आवाज को दबाया और पिछड़ाया भी।

उस समय की संस्कृति और साहित्य में भी राष्ट्रीय आन्दोलन के विचारधारात्मक अन्तर्विरोधों की छाप दिखाई देती है। इन अन्तर्विरोधों के बढ़ने से साहित्यकारों के दृष्टिकोणों में विविधता आयी वे रिनासा-विचार से बाहर आने लगे। प्रजातंत्र और

दूसरे दशक के बाद भारतीय प्रेस का चरित्र बदल रहा था। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में आन्दोलन की सशक्त अभिव्यक्ति हो रही थी। हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के पत्रों के तेवर देखने लायक थे। कांग्रेस की गाँधीवादी नीति तथा वामनैतिकता की तुलना की जाने लगी थी। राष्ट्रीय राजनीति को वैज्ञानिक अर्थ में ग्रहण करने की दलीलें दी जाने लगी थी अर्थात् रिनासा-उद्देश्यों "आत्मा की पुकार", "हृदय परिवर्तन" के ढकोसलों पर व्यंग्य किये जाने लगे थे। सम्प्रदायवाद के विरुद्ध वर्गीय-दृष्टिकोण से सोचा जाने लगा था। इन पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी साम्राज्यवाद तथा देशी-पूंजीवाद के विरुद्ध आवाज़ उठ रही थी। ऐसी हालत में अंग्रेजों ने कम्युनिस्टों के विरुद्ध घोर दमन किया और उनके इस कार्य में देशी-पूंजीवाद ने भरपूर सहयोग दिया।

हिन्दी के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन (१९३६) की भूमिका में भारतीय समाज की वस्तुपरक परिस्थितियाँ कितनी क्रान्तिकारी थीं, देश के राजनीतिक वातावरण में क्रान्ति, स्वतन्त्रता, समाजवाद, प्रजातन्त्र की आवाजें गूंज रही थी। यह समय अहिंसक नहीं था। बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ दी गईं। बंगाली भाषा और साहित्य में गोर्की लोकप्रिय हो चुके थे। ऐसे समय पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक संघ के उद्देश्यों के अनुरूप प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में बैठक हुई। प्रेमचन्द अपने आदर्शवादी रिनासा सस्कारों से मुक्त होकर समाजवादी-यथार्थवाद के पक्षधर बन गये थे। गाँधीवादी-यूतोपिया से निकल गये थे और महाजनी-सभ्यता पर आक्रमण कर रहे थे। यहीं से "हंस" पत्रिका की विचारधारा के युग का आरम्भ होता है। इसी समय १९३७ मे "जीवन-साहित्य संघम" का केरल में संगठन हुआ जिसमें "सामाजिक प्रगति के लिए सर्वहारा-दर्शन और उसके सहयोगी तत्वों को प्राप्त" करने की माँग की गई।

वातावरण इतना क्रान्तिकारी था कि छायावादी रचनाकार भी अपने 'अहं' और 'रहस्यवाद' से बाहर आकर वामचिंतन और सर्वहारा-जीवन के सहयोगी बनने मे गौरव का अनुभव कर रहे थे। जयशंकर प्रसाद जैसे दार्शनिक रचनाकार ने अपने उपन्यास कंकाल में प्रकृतिवादी ढंग से जातीय संस्कृति की समूची बायलॉजी पर तीखा प्रहार किया। यह डार्विन के प्रकृतिवाद की ओर से किया गया आक्रमण था जिसने उस युग में तहलका मचा दिया था। इस उपन्यास ने पुनरुत्थानवादी नैतिकता को हिला दिया था। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने अपने उपन्यास साहित्य में उपेक्षित समाज को सहानुभूति दी। अनेक कविताओं में किसान-मजदूर के श्रम को, उनके सामाजिक सम्बन्धों के यथार्थ को व्यक्त किया। अनामिका से लेकर बेला, नये पत्ते और कुकुरमुत्ता तक निराला की कविता में प्रगतिशील-विचार का विकास दिखाई देता है। कुकुरमुत्ता मे पूंजीवादी विसंगति को स्पष्ट करते हुये जनवादी प्रगति का ऐलान किया है। उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारपंथी नेताओं पर, मुख्य रूप से पं० जवाहरलाल नहरू पर व्यंग्य किया है निराला ने मासुकता की विशिष्ट शैली को जन्म दिया है निराला

मार्क्सवादी नहीं थे लेकिन अपने युग तक की समाजवादी-राजनीतिक हलचलों को आत्मसात कर चुके थे। उनकी रचनाओं में उच्चकोटि की भाव-प्रधान सक्रियता मिलती है। निराला ने प्रेमचन्द की तरह समाजवाद को विज्ञान के अर्थ में नहीं देखा था।

निराला की अपेक्षा सुमित्रानन्दन पंत ने मार्क्सवाद के प्रभाव को प्रत्यक्षतः स्वीकार किया है। लेकिन मार्क्सवादी नैतिकता के पीछे जीवन के वैज्ञानिक-दृष्टिकोण का जो ठोस और वस्तुपरक आधार है उसका पंत के भावुक-व्यक्तित्व में नितान्त अभाव रहा है। पंत अनेक प्रकार के प्रभावों के कवि रहे हैं। उनमें निजी महत्वाकांक्षाएँ प्रबल रही हैं, वे समझौतों में विश्वास करते रहे हैं। इसीलिए उनकी रचना-यात्रा में अनेक पडाव मिलते हैं। उन्होंने मार्क्सवाद को एक लोकप्रिय उमंग के रूप में ग्रहण किया था, क्योंकि उमंगें क्षणिक होती हैं इसलिए वे सैलानी अनुभूतिकार के रूप में किनारे-किनारे भटकते रहे हैं। वे निराला की तरह खड़ी-बोली में जनवाद की स्फूर्ति पैदा नहीं कर सके। इस समय छायावाद के अनेक अप्रमुख रचनाकार राष्ट्रीय वाम चेतना के करीब आ गये थे।

हिन्दी की प्रगतिवादी काव्य-धारा का यथार्थ विश्लेषण नहीं हुआ है। उसे सम-सामयिक राजनीति के संदर्भ से अलग कर दिया जाता है। उसकी कलात्मक-उपलब्धियों को निरपेक्षतावादियों की तरह मूल्यांकित किया जाता रहा है। जिस तरह द्विवेदी-युग की रचना अपने ऐतिहासिक-सामाजिक परिवेश की अभिव्यक्ति थी, उसी तरह प्रगतिवादी रचना भी अपने समूचे ऐतिहासिक-सामाजिक परिवेश की द्वन्द्वात्मक गति को, उसकी उन्नत अवस्थाओं को व्यक्त कर रही थी। चूँकि उस समय तक राष्ट्रीय, राजनीतिक, आर्थिक संघर्षों से निर्मित कोई स्पष्ट रचना-दृष्टि नहीं थी, कोई सिद्धान्त या प्रतिमान नही बन सका था, इसलिए प्रगतिवादी काव्यान्दोलन को राष्ट्रीय जीवन धारा के अर्थ मे स्वीकार करने की दिक्कत आती रही। इस विचार की कविता का मूल्यांकन भी परम्परावादी-रस-ध्वनि-अलंकार के द्वारा किया गया है। पुनरुत्थानवादियों और नव-जागरणवादियों ने इस काव्यान्दोलन की वैज्ञानिक दृष्टि को, उसके समकालीन यथार्थ को न समझकर उसे अराष्ट्रीय घोषित कर दिया। इसके अतिरिक्त उस समय तक शुक्ल जी की लोक-मंगलवादी रिनासा-समाज की सोद्देश्यमूलक-समीक्षा शैली का प्रभाव था तथा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का विकास हो रहा था, इसलिए प्रगतिवादी-चिंतन एकदम अलग थलग पड़ गया था।

रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ने प्रगतिवादा समीक्षा के रचना-सिद्धान्तों को स्पष्ट करने की कोशिश की लेकिन इनके आपसी मत-भेदों के कारण यह कार्य विस्तृत रूप नहीं ले सका। और फिर इस समय तक रचना और समीक्षा में आधुनिकतावादियों का तथा सोशलडेमाक्रेट्स का प्रवेश हो चुका था जिन्होंने प्रगतिवादी-काव्य-चिंतन पर भ्रमकर किया समूचे देश में चौथे दशक

के बाद से प्रगतिशीलता के व्यक्तिवादी आधार लोकप्रिय होने लगे थे फलस्वरूप प्रयोग-वादियों, आधुनिकतावादियों, बुद्धिवादी रचनाकारों और नई कविता के झंडाबरदारों ने योजनाबद्ध ढंग से राष्ट्रीय आन्दोलन के लोकतंत्री-समाजवादी-सारतत्व पर कुठाराघात किया। इन सभी ने व्यक्तिवादी अर्थ की पुष्टि के लिए पूंजीवादी-पश्चिम के प्रतिमानों और मूल्यों का बेरोक-टोक प्रयोग किया। कुल मिलाकर योजनाबद्ध षड्यन्त्र की तरह प्रगतिवादी काव्यविचार पर आक्रमण किया गया और उसे हर दृष्टि से अवमूल्यित किया गया।

प्रगतिवादी काव्यान्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि उसने समकालीन राजनीतिक-आर्थिक-संघर्ष के जनवादी-प्रभावों को संश्लिष्ट अर्थ दिया और लोकतन्त्री-जीवन को नये युग की रचना का केन्द्रीय मुद्दा बनाया। इस आंदोलन से यह स्पष्ट हुआ कि रचनाकार की अनुभूति या भावकोश या चेतना का गुणात्मक विस्तार तभी तक होता है जब तक उसकी ऐतिहासिक-गुणशीलता वर्तमान-सापेक्ष जीवन संदर्भों से निरन्तर उन्नत रूपों में प्रवाहित होती रहे। इसी अर्थ मे रचना एक सांस्कृतिक कर्म बन सकती है और जीवन की संभावनाओं को व्यक्त कर सकती है।

प्रगतिवादी आन्दोलन ने साहित्य को पक्षधरता की, प्रतिबद्धता की, सामाजिक सांस्कृतिक आवश्यकताओं से जोड़ दिया। साहित्य के उद्देश्य में वस्तुनिष्ठ सामाजिक अर्थ की प्रतिष्ठा की। इसके अतिरिक्त कविता और राजनीति के सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुये व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक विश्लेषण को तथा यथार्थवाद को प्राथमिकता दी। इस आन्दोलन ने कला और साहित्य को युग और इतिहास की आत्मा का अनिवार्य गुणफल माना। तथा रचना के मानवीय सरोकारों और कर्त्तव्यो का सवाल उठाया। इतना अवश्य है कि प्रगतिवादी काव्यान्दोलन में जो रचनाकार और समीक्षक थे उन सभी के पास मार्क्सवाद की वैज्ञानिक दृष्टि नहीं थी। अधिकांश में समाजवाद के प्रति भावुकता थी। इसीलिये जब भी राष्ट्रीय कांग्रेस ने समय-समय पर जनजीवन के क्रान्तिकारी सुधारों के मैनीफेस्टो पेश किये और तरक्कीपसन्द भावनाओं को सम्मान दिया, ये प्रगतिवादी रचनाकार भी अपनी विचारभूमि से हटते नजर आते हैं। लेकिन इसे उनका भटकाव नहीं कहा जा सकता। साम्राज्यवाद विरोध और राष्ट्र की आजादी के लिये ये सभी कांग्रेस की नीतियों के साथ थे।

पंडित जवाहर लाल नेहरू के अनुभववादी तथा प्रैग्मैटिक राजनीति-दर्शन के प्रति आकर्षण बढ़ता गया, जिन्होंने मिश्रित-अर्थव्यवस्था के मार्ग से समाजवाद को रामराज्य की तरह अपना अमूर्त लक्ष्य घोषित कर दिया था। और डॉ० राममनोहर लोहिया ने नेहरू के विशाल उद्योग तन्त्र की आलोचना की ग्रामीण-अर्थव्यवस्था का तर्क दिया। नेहरू पर आधुनिक पूंजीवादी का प्रभाव था वे इसी अर्थ में

उदार और प्रगतिशील थे। डॉ० लोहिया में भारतीय सामन्तवादी-सामाजिक-सम्बन्धों की आलोचनात्मक पकड़ तेज थी, वे उसी में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते थे तथा सीमित दायरे में उद्योग-विज्ञान और तकनालाजी को ग्रामीण अर्थव्यवस्था के लिये महत्वपूर्ण मानते थे। उनका समाजवाद भारत के परम्परावादी समाज में एक सीमित हस्तक्षेप था जिसमें जातियों का, वर्गों का और सम्प्रदायों में यांत्रिक ढंग से सामंजस्य बनाये रखने का नुस्खा दिया गया था। पंडित जवाहर लाल के पास पूंजीवादी आधुनिकताबोध की विचार-संस्कृति थी लेकिन डॉ० राममनोहर लोहिया उस प्रखर बुद्धिवादी की तरह थे जिसने आँकड़ों के आधार पर विश्लेषण तो किया है लेकिन बदलते हुये सामाजिक-यथार्थ की वैज्ञानिक समझ के अभाव में मूल्यांकन अपनी आत्म-तुष्टि के लिये किया है—उनके निष्कर्षों में वैयक्तिक सूझ-बूझ का अधिक महत्व है। भारत के पढ़े-लिखे व्यक्ति और बुद्धिवादी के मन पर नेहरू और लोहिया की छाप थी। अपनी सुविधा-सुरक्षा की दृष्टि से वह या तो नेहरू के साथ था, या फिर विरोध की पंक्ति में लोहिया के साथ था।

संक्षेप में राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीतिक-संस्कृति का मूल्यांकन इस प्रकार किया जा सकता है। समूचे आन्दोलन में राष्ट्रीय पूंजी के चारित्रिक विकास के अनेक पड़ाव दिखाई देते हैं। इस आन्दोलन में श्रम और पूंजी का संघर्ष भी होता है लेकिन अन्तिम विजय पूंजी की होती है। आन्दोलन के प्रथम दौर में पुनरुत्थानवादी संस्कारों का महत्व था। सामन्ती-धर्म और नैतिकता में सुधारों की माँग की गयी लेकिन दूसरे दौर में (साईमन कमीशन के बाद) पूंजीवादी विज्ञानवाद, राष्ट्रवाद, उदार प्रजातन्त्रवाद का प्रभाव बढ़ता गया। विवेकानन्द और तिलक का राष्ट्रीय वेदान्त मायावादी नहीं है, उसमें व्यक्ति के उत्थान की उत्कट भावना है। राष्ट्रीय वेदान्त और मानवतावादी अध्यात्म के अनेक रूप उस युग के साहित्य में दिखायी देते हैं। लेकिन इस राष्ट्रवादी अध्यात्म और धर्म की प्रवृत्ति शीघ्र ही क्षीण होने लगती है, वह आत्ममुख होने लगती है। अरविन्द घोष के अतिमानव का अमूर्त आधार लेकर अपने सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र से पृथक होने लगती है, निरपेक्ष होने लगती है।

वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में धर्म और दर्शन से राजनीति को जोड़ने वाले तत्व धीरे-धीरे क्षीण होते जाते हैं। किसान-मजदूर-छात्र और मध्यवर्ग ने जैसे-जैसे आन्दोलन में हिस्सा लिया और संयुक्त-मोर्चे के रूप में अंग्रेजी साम्राज्य-वाद का विरोध किया वैसे-वैसे संघर्ष के अमूर्त विधायक-तत्व समाप्त होते गये हैं। राजनीति परिप्रेक्ष्य साफ होता गया है। गाँधी जी को अनेक बार अपनी वैष्णवी-अहिंसा दृष्टि के लिये पराजित होना पड़ा है। लेकिन गाँधी जी की राजनीति उत्पादन के सामन्ती स्रोतों और सम्बन्धों पर आधारित थी तथा भारतीय जनता का भौतिक-परि

देश भी पिछड़ा हुआ था, वह परम्परावादी था। संघर्ष को यथार्थवादी ढंग से आगे बढ़ाने का नैतिक बल उसमें न था। जनता अपने पुरातन आदर्शों के द्वारा ही संघर्ष कर सकती थी। गाँधी जी ने एक सजग राजनीतिज्ञ की तरह इस परिस्थिति को समझा था और लाभ उठाया था।

गाँधी जी विज्ञान और समाजवाद के ऐतिहासिक सम्बन्धों को समझते थे। वे मशीन के कारण जन्म लेने वाली क्रान्तिकारी सामाजिक चेतना को समझते थे। वे भारतीय पुनरुत्थानवाद के कट्टर समर्थक थे और उसके सारतत्व को पकड़े हुये थे। इसीलिये उन्होंने सजगतापूर्वक विज्ञान का तथा समाजवाद का विरोध किया। वे आन्दोलन में मजदूरों की भूमिका पर हमेशा संदेह करते थे। क्योंकि उन्हें मालूम था कि मजदूर की लड़ाई का दर्शन भौतिकवादी होता है। उनके आचरण का नियामक अर्थशास्त्र होता है। वे जानते थे कि मजदूरों की राजनीति यथार्थवादी होती है। उसमें शोषण के विरुद्ध संघर्ष के राजनीतिक आधार निर्णायक होते हैं। गाँधी जी के कृतित्व का मूल्यांकन करते समय यह नहीं भुलाया जा सकता कि राष्ट्रीय राजनीति में लोक-तन्त्री-जनवाद और साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने का मूल विचार उनका नहीं था। देश की आजादी के लिये शहीद गाँधीवादी कम हुये हैं। 'भूल जाओ और क्षमा करो' की नीति के साथ दुश्मन की कमजोरी का लाभ उठाओ तथा अपने संघर्ष में शामिल भिन्न विचारधारा वाले लोगों के योगदान को अपने अनुकूल बनाओ, उनके ठोस कर्म को अपने उद्देश्य में बदल लो के कूटनीतिक आदर्शों को मानते थे। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में यह समय कम्युनिज़्म विरोधी का था। गाँधी जी ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का भी चतुरतापूर्वक दोहन किया। देश में अपने नेतृत्व को लोकप्रिय बनाये रखा तथा विदेशों में शान्ति-अहिंसा और सद्भाव की, सविनय-अवज्ञा की शैली को भारतीय संस्कृति का आदर्श बताया।

\+ \+ \+

द्वितीय विश्वयुद्ध ने समूची दुनिया के आर्थिक, राजनीतिक ढाँचे को एक निर्णायक बिन्दु पर पहुँचाकर पूँजीवादी और समाजवादी हिस्सों में विभक्त कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध पूँजीवादी व्यवस्था के शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधों की फ़ासिस्टवादी अभि-व्यक्ति था। इस युद्ध ने पूँजीवाद की प्रगतिशील भूमिका को जड़ से नष्ट कर दिया। पूँजीवादी जीवन-दर्शन का ह्रास शुरू हो गया। दूसरी ओर समाजवादी देशों का उदय हुआ। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के संघर्ष तेज होने लगे, उनकी प्रकृति बदलने लगी। अब ब्रिटेन अपने ग्रेट विशेषण को संभालने में असमर्थ हो गया। अमरीका पूँजीवादी दुनिया का अधिनायक बन गया। ऐटलांटिक चार्टर में ऐशिया के मुल्कों की आज़ादी की घोषणा से इंग्लैण्ड को "द लिटिल" बनने पर मजबूर होना पड़ा। द्वितीय विश्व-युद्ध में पूँजीवाद के पिट जाने से जो आर्थिक संकट आया उसका भार उपनिवेशों को

उठाना पड़ा। अतः भारत ने (जो आज़ादी की लड़ाई के अंतिम दौर मे पहुँच चुका था) नये आजाद देशों और समाजवादी देशों की रणनीति को तेजी / अपनाना शुरू किया।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के यथार्थवादी दृष्टिकोण से १६४२ के बाद की घटनाओं का मूल्यांकन किया जाए तो स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि आन्दोलन में गुणात्मक परिवर्तन आ गया था। अब भारत को गुलाम बनाये रखना असंभव था। समाजवादी-जन आन्दोलन को प्राथमिकता मिल गयी थी। इसीलिये विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन के लेबर प्रधानमन्त्री एटली ने भारत को आज़ादी देने की योजना बनायी जिससे वह समाजवादी प्रभाव से बचा रह सके। पूँजीवादी राजनेताओं से संवाद शुरू किया। प्रधानमन्त्री ऐटली जानते थे कि ऐटलांटिक चार्टर के तहत भारत को आजाद करना होगा। वे यह भी जानते थे कि भारत में वामपन्थी जनआधार और संघर्ष मजबूत होता जा रहा। वे यह भी जानते थे कि गांधीवादी नेतृत्व की जमीन खिसकने वाली है क्योंकि जनता में उनकी लोकप्रियता घट रही है। वे मुस्लिम लीग और जिन्ना साहब की ज़िद को भी जानते थे कि यदि आज़ादी में देर हुई तो वामपन्थी-वर्ग सघर्ष के तहत मुसलमान और हिन्दू एक साथ हो जायेंगे। वे सुभाष की सैनिक नीति के परिणामों से परिचित थे, देश लड़ने-मरने को तैयार था। उन्हें मालूम था कि देर करने से राजनीतिक सत्ता का हस्तातंरण कम्युनिस्टों के हाथ में करना पड़ सकता है। इसीलिए उन्होंने अपने गणित से समय निर्धारित करके, प्यार मुहब्बत की रस्म अदायगी के साथ हिन्दुस्तान को दो टुकड़ों में बाँटकर छोड़ दिया।

पन्द्रह अगस्त १६४७ को देश आजाद हुआ। जनता के मन में उत्साह था। उसने अपने भविष्य के स्वप्नों को संजोना शुरू कर दिया था। लेकिन उन तात्कालिक समस्याओं पर विचार नहीं किया गया, उन कारणों की खोज नहीं की गयी जिनकी वजह से आजादी का मजा कड़वा हो गया था। वे समस्यायें और कारण आज भी हैं? हिन्दू-मुसलमानों के खून की नदियाँ क्यों बहीं? इसके यथार्थ कारण को भुलाने की कोशिश क्यों की जाती हैं? गाँधी जी राष्ट्रीय राजनीति में आत्मनिर्वासित से क्यो हुये? इसके यथार्थ कारण को समझने में भूल क्यों की जाती है? गाँधीजी को किस विचारधारा की गोली ने मारा था? इस तथ्य को क्यों नहीं जनता के सामने लाया जाता है? धर्म और सम्प्रदाय की सामन्ती तथा पूँजीवादी व्यवस्था ने इस भूभाग को दो हिस्सों में कैसे बाँट दिया? क्या यह बँटवारा इतिहास के विरुद्ध नहीं था? राष्ट्रीय पूँजीवादी के दूरगामी हितों को ध्यान में रखते हुये अंग्रेजों ने जाति-धर्म और सम्प्रदाय के विष को बो दिया था। इस रीति-नीति को वामपंथियों ने समझा था और शक्तिभर विरोध भी किया था।

आज़ादी के बाद गाँधीजी राष्ट्रीय पूँजीवाद के उन्मुक्त विकास के

में एकदम महत्वहीन हो चुके थे। वल्लभभाई पटेल ने तो उनकी राजनीतिक उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया था। गाँधीजी बिड़ला-मन्दिर के देवदूत बनकर रह गये थे। उन्हें देश की जीवन-चेतना से बाहर कर दिया गया था। गाँधीजी की हत्या ने क्या यह सिद्ध नहीं किया कि वैष्णव-धर्मी अहिंसा सिर्फ राष्ट्रीय पूँजीवाद की सुरक्षा-कवच थी? गांधी जी की हत्या ने एक ही झटके में पुनरुत्थानवादी-सुधारवाद और नैतिकता की बुनियाद हिला दी। अब नये ढंग के शोषण के युग का आरम्भ हुआ। पूँजीवाद को खुला आसमान मिल गया। भारतीय पूँजीवाद को मालूम था कि गाँधी जी के सक्रिय रहते उसे नैतिक पराजय का सामना भी करना पड़ सकता है। और नवोदित राष्ट्र में इस तरह की पराजय भविष्य के पूँजी विकास में घातक सिद्ध होगी। अतः गाँधीजी की हत्या सुविचारित थी, उन्माद के कारण नहीं की गयी थी।

आजादी के बाद भारत राष्ट्रकुल का सितारा बन गया। ब्रिटेन के उदार प्रजातंत्र के अनुकरण पर राष्ट्रवादी नेताओं ने देश की विशालता और घनी आबादी को देखते हुये एक भरा-पूरा संविधान बनाया और यह कहा गया कि दुनिया के संविधानों की अच्छाइयाँ उसमें भर दी गयी हैं। दुःख की बात है कि अपने देश और समाज की ऐतिहासिक-आर्थिक परिस्थितियों को विश्लेषित नहीं किया गया। उधारी के उसूलों को आदर्श मान लिया गया। हमारे नेताओं में राष्ट्रीय जीवन की जटिलताओं को समझने की क्षमता का कितना अभाव था इसका प्रमाण क्या उधारी के सिद्धान्तों से निर्मित तथा अमूर्त आदर्शों वाले संविधान से नहीं मिल जाता है? इसमें कोई शक नहीं कि संविधान निर्माता आदरणीय नेता थे, ईमानदार थे, उनकी नीयत साफ थी, वे समाज के हितों की रक्षा करना चाहते थे लेकिन तत्कालीन इतिहास के संदर्भ में, पूँजीवादी शोषण की नई-नई तकनीक के संदर्भ में, जनसंघर्षों के संदर्भ में तथा सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में इनके आदर्श बेमानी थे। अतः संविधान ने भारत के प्रजातंत्र में एक तरह की यांत्रिक एकरूपता ला दी। फिर भी, उसका सम्मान किया गया, उसे सर्वोपरि माना गया।

हमारा प्रजातंत्र रजवाड़ों, रियासतों और अंग्रेजी जमाने के नौकरशाहों के भीतर से जन्मा था। व्यवस्था की संरचना को बदलने का जरूरी कार्य नहीं किया गया। इसीलिये नेता-नौकरशाह और उद्योगपति के हित जुड़ते गये तथा धीरे-धीरे जनता के हितों से इनके सम्बन्ध शत्रुवत होते गये। श्रम और पूंजी के विरोध में सरकार हमेशा पूँजी के साथ रही। उत्पादक की हैसियत गिरती गयी और उपभोक्ता की संस्कृति पनपने लगी। इस तरह लोक-आधार टूटने लगा। लोकतंत्री आचारशास्त्र के सरकारी तौर-तरीके तथा जनता के चिंतन और आचरण के तौर-तरीकों में भेद बढ़ता गया। लेकिन उस समय जनता का सक्रिय विरोध इसलिये नहीं हुआ क्योंकि सदियों से गुलाम संस्कार वाले देश को प्रजातंत्र मिला था सामंतवादी जड़ता से

पीड़ित समाज को प्रजातंत्र मिला था। रजवाड़ों और रियासतों में गुलाम की तरह जीने वाले समाज को प्रजातंत्र मिला था। इसके साथ ही उद्योगपतियों, मिलमालिकों और नव-धनाढ्यों को अपनी आर्थिक नीतियों को स्वतंत्र ढंग से बनाने के लिये प्रजातंत्र मिला था। राष्ट्रीय नेताओं को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये प्रजातंत्र मिला था। लेकिन भारत की गरीब जनता जो गाँधीजी के साथ थी, पराजित सेना के मनोभाव की तरह हथियार डालकर अपने-अपने आत्मनिर्वासित नियति-परिवेश मे जीने को विवश थी। और भारत की आजादी मिश्रित-अर्थव्यवस्था के मार्ग से प्रगतिशील कार्यक्रमों को जटिल बनाते हुये रामराज्य के घोषित उद्देश्य को पाने मे लगी थी।

## आधुनिकीकरण की प्रक्रिया बनाम सामंती-उत्पादन सम्बन्ध

भारत में सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था की पुनरुत्थान और नवजागरणवादी शैली मे उदार प्रजातंत्र का जन्म हुआ जिसे छब्बीस जनवरी, १९५० को "प्रभुत्व-सम्पन्न धर्म निरपेक्ष लोकतंत्री गणराज्य" घोषित किया गया। देश की जनता में उत्साह था, कार्य करने की क्षमता थी। जनता ने आजादी और प्रजातंत्र का स्वागत किया। उसने उम्मीदें बाँध ली थीं कि गरीबी, भुखमरी, बेकारी और अशिक्षा से मुक्ति मिलेगी। गाँधीजी ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनरुत्थान पर बल दिया था लेकिन आजादी के बाद प्रधानमंत्री नेहरू की सरकार ने आधुनिक उद्योगों को बढ़ावा दिया। इस तरह, राष्ट्रीय पूँजीवाद के विकास की नींव मजबूत हुई। उसकी अगणित संभावनायें पैदा हो गयीं। भारत को विदेशों से तथा विश्व-बैंक से सहायता और उधारी के रूप में धन मिला। इस तरह विदेशी पूँजी की घुसपैठ भी होने लगी। नतीजा यह हुआ कि भारत की ग्रामीण-अर्थ व्यवस्था तथा विदेशी पूँजी की सहायता से विकसित होने वाली उद्योग-व्यवस्था का संतुलन टूटने लगा। इसके अतिरिक्त कुछ ही दिनों में प्रजातंत्री राजनीति की रूपवादी शैली के तहत जमींदारी उन्मूलन हुआ। देशभर में उच्च मध्यम वर्ग के नवधनाढ्यों का सिलसिला शुरू हुआ जिनके पास खेती थी तथा शहरो मे मिल्कियत थी। धीरे-धीरे इस वर्ग के आर्थिक और राजनीतिक गठबंधन राष्ट्रीय-पूंजी तथा साम्राज्यवादी-देशों से उपलब्ध होनें वाली पूँजी से होने लगा। एक नये किस्म के हिन्दुस्तान का जन्म हुआ। एक नये किस्म की संस्कृति का जन्म हुआ। एक नये किस्म की महाजनी प्रवृत्ति का विकास हुआ जिसकी नागरिकता और राष्ट्रीयता की पहचान धनोपार्जन के भ्रष्ट तरीकों से होने लगी। उपभोक्ता संस्कृति में विज्ञापन और फैशन जीवन-मान के निर्धारक होने लगते हैं। परजीवीपन आने लगता है। इस तरह के परिवर्तन को देश के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की मंजिल माना गया। ग्रामीण जीवन कुंठित होने लगा, वह नगरों-महानगरों के अधीन होने लगा। ग्रामीण रागात्मकता धीरे-धीरे नगर और महानगर की विज्ञापनीय फैशनपरस्त प्रदर्शनप्रिय

लफ्फाजी में लुप्त होने लगी। जनता ने खुली आँखों से नये अर्थतंत्र के उन्मुक्त विकास को देखा। यह सब कुछ एक पिछड़े हुये, गरीब और अशिक्षित, अंध-विश्वासी रीति-रिवाजों वाले धर्म और नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित समाज में चौंका देने वाला प्रगतिशील लक्षण सा दिखाई दिया। इस तरह पूँजी के प्रभाव क्षेत्र में जनता ने, बुद्धि-जीवी वर्ग ने तथा पढ़े लिखे लोगों ने मंगलकामनायें की और अपने आर्थिक भविष्य के स्वप्न देखना शुरू कर दिया।

आजाद भारत के आधुनिकीकरण की इस प्रगतिमान रूपरेखा को साहित्य मे भरपूर जगह मिली। इसे स्वतः स्फूर्त उमंगों के साथ प्रतिपादित किया गया। फणी-श्वरनाथ रेणु के उपन्यासों से लेकर नई कविता के अधिष्ठानों-प्रतिष्ठानों तक इस नवीन प्रगति की रोमांचक गाथा देखी जा सकती है। अब साहित्य में आधुनिकीकृत मध्यवर्ग के नायकों-नायिकाओं का जन्म होने लगा। रोमांस की दुनिया चायघरो, काफी घरों, पार्कों, होटलों और सड़कों तक फैलने लगी। घर के बंधन टूटने लगे, सैलानीपन आने लगा। हर सैलानी नया कवि या बौद्धिक हो गया। गुनाहों के बौद्धीकरण से देवताओं को नये युग का आरम्भ हुआ। राजेन्द्र यादव, मोहन-राकेश और कमलेश्वर के युग का आरम्भ हुआ। 'माँस के दरिया' के किनारे बुद्धिजीवी इकट्ठे होने लगे। भारत की आजाद पूंजी ने जिस नई बौद्धिक-संस्कृति को जन्म दिया था, जिस नई चिन्तन-शैली को जन्म दिया था उसके पास अपनी विरासत क्या थी? मध्यवर्ग की वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये नवपूंजीवादी व्यवस्था ने द्वार खोल दिया था। स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों से लेकर बड़े-बड़े संस्थानों तक तथा बड़े घरानों के प्रेस तक इस मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की पहुँच थी। इस वर्ग ने आजादी को फ्लैटर किया, उसे बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया। यह वर्ग व्यवस्था की "दरारों में घुसकर ऊँचाई तक" पहुँचता गया, सुविधाओं को पकड़ता गया। इस वर्ग ने राष्ट्रीय-आन्दोलन के मूल्यों को निरस्त कर दिया। इस वर्ग ने लोकजीवन की वास्तविकताओं से मुँह मोड़ लिया। इसीलिये इसके पास जेम्सज्वायास, लारेन्स, इलियट थे, दास्तोयवस्की, काफ्का, प्रूस्त थे। जो अधिक चालाक थे वे एलबर्ट कामू और सार्त्र का नाम भी लेते थे। आजादी के बाद की बौद्धिक संस्कृति में कितना आयात हुआ है, इसका गणित लगाना कठिन नहीं है। इनके कृतित्व में इतिहास-बोध का अभाव है। इनके कृतित्व में समकालीन सामाजिक-यथार्थ से मुक्त रहने की प्रबल इच्छायें हैं। इन सभी ने रचना में परिप्रेक्ष्य को, यथार्थवाद को नकारा है, वैज्ञानिक समझ का विरोध किया है। इन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं लिखा है जिसके लिये स्वतन्त्रता की अतिरिक्त जरूरत हो, लेकिन वैयक्तिक स्वतंत्रता की माँग के लिये चीख पुकार हमेशा लगाते रहे हैं। इन सभी बौद्धिक रचनाकारों ने इतिहास और समाज के गुण-धर्म की अपेक्षा व्यक्ति के मनोविज्ञान को प्राथमिकता दी है। इनकी रचना-संस्कृति का

चरित्र व्यक्तिभोग की आकांक्षाओं से युक्त है। उसमें कोई आध्यात्मिक संकट नही है। कहीं-कहीं आध्यात्मिक-संकट का पोज़ अवश्य है।

इन बुद्धिजीवी रचनाकारों पर तरस आता है क्योंकि इन्होंने विदेशी पूँजीवाद के आध्यात्मिक संकट को नवोदित राष्ट्रीय पूंजीवाद की विकासमान परिस्थितियो मे रूपान्तरित करने का फूहड़ प्रयास किया है। पश्चिम के नशे को, अपराध को, आत्म-निर्वासन को हमारे समाज पर थोपने का प्रयास किया है। अगर यही कार्य गंदीगली मे सडे-गले जीवन को जीनेवाला भूखा-गरीब करता है तो भारतीय पुलिस उसे जेल में बन्द कर देती है तथा भारतीय समाज उससे नफरत करता है। हमारे यहाँ हाजी मस्तान कुली की इज्जत है लेकिन अपने अधिकार के लिये कानूनी ढंग से लड़ने वाले मजदूर को अपराधी घोषित कर दिया जाता है। अतः बगैर किसी संकोच के यह कहा जा सकता है कि आजाद भारत में आधुनिकीकरण और आधुनिकता विश्वशीत युद्ध के दौर का अंग बन जाती है। तथा संस्कृति और संस्कारों के आधुनिकीकरण के मुलम्मे मे पूँजीवादी पश्चिमी दुनिया का ह्रासशील आधुनिकता-बोध आयातित होने लगता है। हमारे बुद्धिजीवी रचनाकारों ने इस आधुनिकीकरण में दलाली की है। उसने पश्चिम के नैतिक-निषेध को खड़ीबोली में जगह दी है। क्या भारत में ऐसी परिस्थितियाँ थी या है? जिनसे रचनाकार अकविता, अकहानी, असमीक्षा के सृजन-निषेध का अंग बन जाये? यह सब कुछ भारत के बिके हुये पतित सरकारी बुद्धिजीवी रचनाकार की अराष्ट्रीय करतूतों का फल है जिसने पश्चिम के युद्ध, सैक्स, अपराध और आत्मनिर्वासन को नशीली-दवाओं की तरह साहित्य के खुले बाजार में बेचा है। क्या इनके पास स्वाधीनता और स्वतंत्रता की कोई ऐतिहासिक, राष्ट्रीय और समकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली सामाजिक-यथार्थवादी-दृष्टि है? तब प्रश्न उठता है कि भारतीय प्रेस ने, भारतीय विश्वविद्यालयों ने इन्हें अपनी नोटिस में क्यों लिया?

आजाद भारत में आधुनिकता-बोध को आत्मसात करने वाले अधिकांश साहित्यकार, कलाकार और बुद्धिजीवी मार्क्सवाद के विस्तार को रोकने वाले पश्चिमी शीतयुद्ध के षडयंत्र का जाने-अनजाने हिस्सेदार होते रहे हैं। क्योंकि भारतीय प्रेस पर, प्रचारतंत्र पर, सांस्कृतिक संस्थानों पर भारतीय एकाधिकारवादियों का आधिपत्य और प्रभाव रहा है जो विश्व पूँजीवाद का सहयोगी और अंग बन चुका था। इसके अतिरिक्त भारतीय जनता में पूँजीवादी सामाजिक क्रियाकलापों में आस्था दिखाई देती है। इस तरह आजादी के बाद की संस्कृति में प्रगतिशील आन्दोलन को भ्रमित करने तथ जनवादी-संघर्ष के विचार पर अंकुश लगाने का प्रयास हुआ है। न्याय, कानून, शिक्षा, साहित्य और कला आदि में प्रतिगामी विचार की सक्रियता दिखाई देती है।

भारत में शीतयुद्ध के षडयंत्र का एक गम्भीर घातक परिणाम यह हुआ कि यहाँ के मध्यवर्गीय ~~बुद्धिजीवी~~ का प्रगतिशील चरित्र भ्रष्ट हो गया। उनके

ईमानदारी भी दाँव पर लग गयी। उसे पद, प्रतिष्ठा और धन के सुख-भोग ने जकड़ लिया। उसने विद्रोह और संघर्ष छोड़ दिया तथा पूँजीवादी प्रजातंत्र के रूपवाद और शैलीवाद को ग्रहण कर दिया। उसका जनजीवन से रिश्ता टूट गया, वह अपने अकेलेपन को कभी गौरवान्वित और कभी तिरस्कृत करने लगा। वह विशिष्ट घटना, विशिष्ट परिस्थिति और विशिष्ट स्थिति के संदर्भ में अपनी सादृश्यता को, अपनी अस्मिता को, अपनी नियति की खोज करने लगा, वह एक फैनामिनालिस्ट जैसा हो गया। उसमें समाज के गुणात्मक विकास के द्वारा समग्र और संश्लिष्ट होते हुये प्रभावों की समझ और पकड़ समाप्त हो गयी।

जिस देश ने राजनीति को अपनी संस्कृति में उतारकर, अपनी दिनचर्या में उतार कर आजादी पायी थी और राष्ट्रीय मनोभाव की रचना की थी। जिस देश के राष्ट्रीय नेताओं ने गुलामी से मुक्त होने के लिये किसान, मजदूर, विद्यार्थी, वकील, कर्मचारी, सैनिक आदि सभी वर्गों से राजनीति में हिस्सेदारी का आह्वान किया था उसी देश में आजादी के बाद राजनीति को जनता के चिंतन और आचरण से दूर करने की कोशिश की गयी। इतना ही नहीं सामाजिक जीवन की अन्तः संगति को तोड़ने के लिये ज्ञान-विज्ञान के विषयों को अलग-अलग कर दिया गया। उन्हें सैद्धान्तिक फार्मूलों में बाँध दिया गया। विज्ञान को ज्ञान-मीमांसा से पृथक कर दिया गया। राजनीति-दृष्टि को अनावश्यक और हानिकर बताया जाने लगा। व्यक्तिवादी स्वायत्तता में राजनीति-विचार का महत्व नहीं होता क्योंकि राजनीति से व्यवस्था के प्रति तर्क और विश्लेषण की क्षमता परिपक्व होती है, वस्तुपरक निर्णय लेने की निश्चयात्मकता आती है। इस तरह आजाद भारत में शीत युद्ध की विशिष्ट सांस्कृतिक भूमिका रही है।

इसीलिये भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया उतनी जनतांत्रिक नहीं रही है। आधुनिकता बोध व्यक्तिवादी गुणों वाला रहा है, भोगवाद को बढ़ावा देने वाला रहा है। इस आधुनिकता-बोध से सामाजिक मनुष्य की रचना नहीं हो सकती। इससे उद्योग-विज्ञान और तकनालाजी के वस्तुनिष्ठ सामाजिक संस्कार नहीं बन सकते। यह आधुनिकता-बोध विचारधारात्मक प्रतिबद्धता के विरुद्ध है। इसमें व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों और प्राकृतिक स्वतन्त्रताओं को महत्व दिया जाता है। आर्थिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रताओं पर अंकुश लगाया गया है। इसके साथ ही संविधान मे स्वीकृत धर्म-निरपेक्षता को वैज्ञानिक ढंग से तथा यथार्थवादी ढंग से परिभाषित नही किया गया है। समाजवाद को राम-राज्यीय व्यवस्था के नाम से भारतीकृत कर दिया गया है। फलस्वरूप इस आधुनिकताबोध से सामाजिक रचनात्मकता विखंडित हुई है। गाँव का उत्पादक कुंठित हुआ है। आत्मपरायेपन का भाव पैदा हुआ है सफेद कालर संस्कृति मे रिक्तता आयी है वह प्रदर्शन प्रिय हो गयी है उसके

तथा समाज के जीवन का सारतत्व क्षीण हुआ है। इस आधुनिकता-बोध ने डार्विन और फ्रायड की नस्लवादी प्राणिमनोवैज्ञानिक प्रकृत-इच्छाओं के अराजक और निरंकुश सम्भार को विस्तृत किया है।

आधुनिकीकरण और लोकतन्त्री प्रगति में एकरूपता होनी चाहिये थी। आधुनिकीकरण से उत्पादन-स्रोतों, सृजन-स्रोतों के विकास की गति तेज हुई, उनमें परिवर्तन आया। इसी के अनुरूप जनता के जनवादी उद्देश्यों की पूर्ति में भी मजबूती आनी चाहिये थी। हमारे देश में आधुनिकीकरण और जनवादी-जीवनमानों में कोई तारतम्य दिखाई नहीं देता। हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि किस तरह हिन्दी साहित्य मे शीत युद्ध का विचार सक्रिय रहा है। शीत युद्ध की विचारधारा से भारत के आधुनिकीकरण के जुड़ जाने का फल यह हुआ कि प्रजातान्त्रिक जीवन-मूल्य लड़खड़ाने लगे। सत्ता और जनता में विसंगति पैदा होने लगी, अबौद्धिकता को प्रश्रय मिलने लगा। साहित्य पर इसका पहला प्रभाव तो यह पड़ा कि राष्ट्रीय आन्दोलन की जनवादी-संघर्षशीलता के अनुरूप जो साहित्यिक चेतना प्रगतिवादी आन्दोलन में मूर्तित हुई थी, उसका गलत ढंग से विरोध किया गया। उसके ऐतिहासिक संदर्भों को तोड़ा गया। उसकी अनिवार्यता और आवश्यकता को नकारा गया। उसके कथ्य और उसकी कला पर आक्षेप किये गये। समाजवादी-विचारधारा को गैरजातीय, गैर-प्रजातांत्रिक और अराष्ट्रीय कहा गया। उसे भारतीय दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र के विरुद्ध बताया गया।

आधुनिकताबोध के तहत खड़ी बोली भाषा और साहित्य में प्रतिक्रियावादी, व्यक्तिवादी धारा का जबरदस्त प्रचार किया गया। बड़े घरानों के प्रेस ने साहित्यकारों को खरीदना शुरू किया। साहित्य में गुटबाजी शुरू हुई। यही हालत ललितकलाओं और हिन्दी फिल्मों की भी रही है। आजादी के बाद हिन्दी फिल्मो मे मृतप्राय सामन्तवादी सामाजिक सम्बन्धों की त्रासदी के साथ नवोदित पूँजीवाद के मध्यमवर्गीय नायक-नायिकाओं के रोमांस की आशावादिता दिखाई देती है। नौशाद के शास्त्रीय-अर्थशास्त्रीय संगीत और दिलीप कुमार के अभिनय का सार सामन्तवादी सामाजिक रिश्तों की त्रासदी में दिखाई देता है। शंकर-जयकिशन का संगीत और राजकपूर के अभिनय का सार नवोदित पूँजीवादी-व्यक्तिवादी रोमांस की आशावादिता मे दिखाई देता है।

यदि अज्ञेय की सम्पूर्ण रचनाओं के केन्द्र को पकड़ा जाए तो उसमें भारत के जनतान्त्रिक राष्ट्रीय आन्दोलन के विपरीत गुण-धर्म वाला व्यक्तिबोध दिखाई देगा। अज्ञेय ने अहं की क्षण-विशिष्ट बोधव्यता को संस्कारित किया है, उसे अलंकृत किया है। उनकी रचनाओं में आधुनिक युग के आध्यात्मिक संकट की छाप तो है लेकिन उनकी अन्तर्दृष्टि के आधार और नहीं है वे वस्तु सत्य को

अस्तित्ववादी-परिधान में अमूर्त ढंग से प्रकट करते हैं। उनकी दार्शनिकता पर छायावाद की छाप है। फिर भी, अज्ञेय प्रयोगवाद के सूत्रपाती रचनाकार हैं। उन्होंने आधुनिकताबोध की त्रासदी को प्रकट किया है। प्रयोगवाद के माध्यम से अज्ञेय ने विश्व-पूंजीवाद के सांस्कृतिक सारतत्व को प्रभावपूर्ण कौशल के साथ प्रसारित किया है। अज्ञेय ने भारत के सामाजिक-यथार्थ की वास्तविकता और सच्चाई को काट-काट कर व्यक्ति-धर्मी बनाया है। अहं के विद्रोह को आधुनिक परिवेश में स्थापित किया है।

अज्ञेय ने स्थान और स्थिति की तथा परिवेश की बौद्धिक-व्याख्या का सिल-सिला शुरू किया जिसमें आत्मपरक लुष्टीकरण की अभिनव शैली का जन्म होता है। अज्ञेय ने समाज में एक नागरिक की तरह रहते हुये भी उससे मुक्त होने की दलीलें दी हैं। वे आत्माभिव्यंजना के पक्षधर रहे हैं—आत्म संप्रेषण के प्रवक्ता रहे है। आत्मबोध के अधिष्ठाता रहे हैं। अज्ञेय ने तार-सप्तक योजना से जनवादी-लोक-तन्त्री यथार्थवाद की द्वन्द्वात्मक गति पर रोक लगाई और इस तरह अप्रजातांत्रिक जीवन दर्शन की बुनियादों को मजबूत किया है। अज्ञेय के कृतित्व में एक-अकेला-ही अपने लघुत्व और अपने विराट्त्व के साथ सुख-दुःख की क्रीड़ा करता है। अज्ञेय ने व्यक्ति की क्रीड़ा कलाओं का दार्शनीकरण भी किया है। इस तरह अज्ञेय ने खड़ी-बोली रचना को उसके इतिहास से, उसके समाज से तथा उसके समकालीन दायित्वों से अलग कर दिया। साहित्य में अज्ञेय और उनके स्कूल का योगदान प्रजातन्त्री चेतना के गुणा-त्मक विकास को अस्त-व्यस्त करने का रहा है। राष्ट्रीय संघर्ष और आजादी के मूल्यों के विपरीत अज्ञेय का कर्तृत्व अराष्ट्रीय सा लगता है। वे व्यक्ति के रूप मे वसुधैवकुटुम्बकम् की ऊँचाइयों को तो छूते हैं लेकिन एक सामाजिक के और एक नाग-रिक के रूप में राष्ट्रीय-जीवन के तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारकों तक नही पहुँच पाते हैं। उनकी रचनाओं में सामाजिक और नागरिक सम्बन्धों से मुक्त होने की अवस्थाओं को चित्रित किया गया है। यही से वे रहस्यवाद की कक्षा तक पहुँचते है। यही है उनके 'अपने-अपने अजनबी' का निर्वासित संसार और यही है मत्यु की प्रामा-णिक बोधव्यता को पहचान लेने के बाद की निर्वैयक्तिक तार्किकता—जिसके बल पर अज्ञेय 'सन्नाटा बुनते' रहे हैं।

**सोशल डेमाक्रेटिज्म का विचारदर्शन और हिन्दी रचना**—आजादी के बाद भारत की प्रजातान्त्रिक राजनीति में पुराने रजवाड़ों, रियासतदारों, नव-धनाढ्यों तथा पूँजीवादी महत्वाकांक्षाओं से पूरित मध्य वर्ग का प्रभाव बढ़ता गया है। इन्हीं के प्रभाव-गुटों की लाबी में लोकसभा तथा विधान-सभाओं के चुनाव होते रहे हैं। फल-स्वरूप राजसत्ता और जनता में अन्तर्विरोध बढ़ता गया है। यह अन्तर्विरोध देश की संस्कृति में स्पष्ट दिखाई देता है साहित्य और कला में स्पष्ट दिखाई देता है।

जनता धीरे-धीरे अराजनीतिक होने लगती है। उसकी हिस्सेदारी का मूल्य गिरने लगता है। वह महत्वहीन होने लगती है और भीड़ में, विद्रोही समूहों के रूप मे अराजक आचरण करने लगती है। उसकी राजनीतिक-आर्थिक, सामाजिक आवश्यकतायें और महत्वाकांक्षायें क्षीण होने लगती हैं। वह अपनी संस्कृति से विलग होने लगती है। देश भर में राजसत्ता और कानून; जनता और न्याय में कोई संगति नही रह जाती है। फलस्वरूप, जीवनदर्शन में अबौद्धिकता और अनुशासनहीनता आने लगती है। इस बढ़ती हुई अबौद्धिकता के कारण सभी प्रकार की नैतिकताओं, मान्यताओं में गिरावट आयी और अर्थहीनता का वातावरण पैदा हुआ। ऐसी हालत मे स्वार्थों की राजनीति और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला। चारों तरफ़ उदासीनता, तटस्थता, निरपेक्षता का भाव दिखाई देने लगा। जनता के साथ दलाली की जाने लगी। शासनतन्त्र गडमड हो गया। इजारेदारी मजबूत होती गयी, जनता शोषण से दबती और पिसती गयी।

आजादी के पहले और कुछ दिनों बाद तक 'प्रगतिशील' वे लोग थे जो मार्क्सवादी-वर्ग संघर्ष के द्वारा जनता की समस्याओं को वैज्ञानिक ढंग से सुलझाना चाहते थे। शोषण की व्यवस्था को बदलना चाहते थे। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के आधार पर ये प्रगतिशील भारतीय प्रजातन्त्र में जनवादी संघर्ष को प्राथमिकता देते थे। तथा सामूहिक श्रम की संगठित-संस्कृति के द्वारा जनता-जनार्दन के जीवनमान को उठाना चाहते थे। समूचे समाज की उत्पादक-शक्ति; सृजन-शक्ति के गुणात्मक विकास के द्वारा नई संस्कृति का आदर्श संजोये थे। लेकिन दुर्भाग्य से 'प्रगतिशील' उन लोगों को कहा जाने लगा जो व्यक्तिवादी संस्कारों के थे तथा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में सुधारों के पक्षधर थे। इस तरह रजवाड़ों-रियासदारों के पढ़े-लिखे लोग प्रगतिशील हो गये। मध्यवर्ग का पढ़ा-लिखा सुविधा-प्राप्त व्यक्ति प्रगतिशील हो गया। अब आजाद भारत में सोशल-डैमाक्रेट को प्रगतिशील कहा जाने लगा। इस सोशल डैमाक्रेटिज्म की प्रगतिशीलता के दो रूप थे। एक में प० नेहरू की राजसत्ता से जुड़े तथा उसके प्रशंसक प्रगतिशील थे। दूसरे प्रकार के प्रगतिशील लोहिया के समाजवाद से जुड़े थे। वैसे डॉ० लोहिया पुराने कांग्रेसी थे, आजादी के बाद विरोध में आ गये थे। दोनों के राजनीति-दर्शनों पर अनुभववाद और प्रत्यक्षप्रमाणवाद की छाप थी। नेहरू जी अधिक प्रैग्मैटिक थे। वे रूस की समाजवादी क्रान्ति से प्रभावित थे। पं० नेहरू की कार्यप्रणाली के सामने डा० लोहिया कोरे सिद्धान्तकार बनकर रह गये। नेहरू की औद्योगिक-नीति के सामने डॉ० लोहिया उत्तर गांधी युग के बौद्धिक बनकर रह गये।

डा० लोहिया अर्थशास्त्र के पंडित होकर भी वर्ग के विज्ञान को नहीं समझ पाये और वर्ण के मनोविज्ञान की दलीलें देते रहे। उन्होंने राजनीति और अर्थशास्त्र को वर्णों के ऐतिहासिक-विकास से जोड़ने का प्रयत्न किया था। इसीलिये

वे सम्प्रदाय निरपेक्षता के भौतिकवादी तर्क को स्वीकार नहीं कर सके। वे दीर्घकाल तक भारत की राजनीति में रहे लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीत्यार्थिकी के दबावों को समझने में बहुत कामयाब नहीं हुये। वे भारत में लगी विदेशी पूंजी के मूल्यांकन मे बहुत सफल नहीं हुये। उनके आँकड़ों में इकन्नी-दुहन्नी-चौहन्नी और रुपया तथा हल्दी, मिर्च, नमक, धनिया की गणित मिलती है। इसी के हिसाब से वे भारतीय गरीबी का लेखा-जोखा करते थे और अपने को गरीबों का हमदर्द समझते थे। इसी तरह से उन्होंने गरीबी के पाताल तथा अमीरी के आकाश का भेद निरूपण किया था। फिर भी, डॉ० लोहिया नेहरू जी की तरह ईमानदार और प्रखर बुद्धि वाले थे। भारतीय पूंजीवाद ने दोनों की ईमानदारी का दोहन किया और दोनों की बौद्धिक प्रखरता को अपने अनुकूल बनाया। आजादी के बाद की भारतीय राजनीति में दोनो का गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

भारत के प्रजातन्त्री जीवन दर्शन में प्रैग्मैटिज्म का सारतत्व मिलता है। इसीलिये उसके आचरण में अन्तर्विरोधों का संघर्ष तथा विभिन्न अवयवों में ऐक्य की भावना एक साथ मिलती है, अन्तर्विरोधों के मध्य एकता और समन्वयात्मकता मिलती है तथा उद्देश्य की भूमिका पर राम-राज्यीय व्यवस्था (Welfare State) का मिथक और पूंजी केन्द्रित व्यक्तिवाद की प्रगतिशील सामाजिकता दिखाई देती है। इस तरह की प्रगतिशीलता रोमान्टिक-यथार्थवाद से अभिभूत होती है। समाजवाद के भारतीयकरण की यही रूपरेखा है। इसी के आधार पर राजनीति में नेहरू और लोहिया-पंथ सक्रिय रहे हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी रचना में नेहरू और लोहिया के विचारदर्शन की छाप मिलती है।

नये भारत के निर्माण के अनुकूल नई रचना का प्रादुर्भाव होता है। अब प्रयोगवाद के स्थान पर नई कविता, नई कहानी, नई समीक्षा आदि का चलन बढ जाता है। साहित्य जगत में बड़े-बड़े बुद्धिवादी रचनाकारों, समीक्षकों का दबदबा बढने लगता है। अज्ञेय भी शान्त भाव से इस नये रचना-परिवेश में खिसक आते है। दूसरे तथा तीसरे तारसप्तकों में अपनी पूर्व-मान्यताओं को कुछ बदलते हुये प्रैग्मैटिक हो जाते हैं। अब अज्ञेय को सोशल डैमाक्रेट्स की संगति मिल जाती है। लेकिन उनका आचार्यत्व छिन जाता है। वे प्रतिनिधि और प्रवर्त्तक नहीं रह जाते हैं। हिन्दी साहित्य मे यह समय आँचलिकता के आन्दोलन का है, नई कविता के आन्दोलन का है। इलाहाबाद, बनारस और दिल्ली तथा बाद में भोपाल में नई रचना के काव्यशास्त्र पर शास्त्रार्थ होने लगते हैं। रघुवंश, जगदीश गुप्त, विजय देवनारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, कुवरनारायण, शिवप्राद सिंह, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुबीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, कमलेश, मलयज, श्रीराम शर्मा और अशोक बाजपेयी आदि की सक्रियता से साहित्य में बौद्धिकता चमकने लगती है। साहित्य में आतिशबाजी छूटने लगती है।

इन सभी ने भाषा-संवेदना और रचना के कथ्य को नव्य-स्वच्छंदतावादी भंगिमा प्रदान की। संकीर्ण अर्थ में इसे अन्तश्चेतनामूलक यथार्थवाद की संज्ञा भी दी जा सकती है। इन्होंने कभी तो अपनी परिस्थिति और परिवेश को संश्लिष्ट अर्थ मे रूपायित किया है तो कभी परिस्थिति और परिवेश के विरुद्ध आक्रोष व्यक्त किया है, तो कभी उसका तार्किक विश्लेषण कर उसमें अपनी निजी स्थिति का अनुमान लगाया है। ये सभी रचनाकार छायावादी-आत्मवाद-रहस्यवाद के विरुद्ध हैं। ये आधुनिक उद्योग-विज्ञान-तकनालाजी के विरुद्ध नहीं है लेकिन ये व्यक्ति की तार्किक-सार्थकता को प्राथमिकता देते हैं। इसीलिये ऐसे रचनाकार व्यक्ति और उसके व्यक्ति को विशिष्ट-भौतिक परिवेश की समग्र-संस्कृति का उपजीव्य नहीं मानते। वे व्यक्ति के परिवेश की ऐतिहासिक वस्तुवादी सत्ता का विरोध करते हैं। ये रचनाकार परावर्तन के सिद्धान्त को नहीं मानते। समूचे समाज के संदर्भ में मनुष्य की अन्तश्चेतना के गुणात्मक विकास को महत्व नहीं देते। ये तो समाज को, घटनाओं को स्वतन्त्र ईका-इयो में बाँटकर देखते हैं और उसमें व्यक्तित्व अर्जन की परिस्थितियों को खोजते हैं। इनकी बौद्धिकता और तर्क स्वतःस्फूर्त होते हैं। इसीलिये इनमें अतिरिक्त आक्रोष और उत्तेजन भी मिलता है तथा अतिरिक्त शालीनता और गम्भीरता भी मिलती है। ये कुल मिलाकर स्वतःस्फूर्त तर्क के अनुसंधित्सु हैं। इसीलिये इनकी रचनाओं और समीक्षाओं में आत्मपरक निष्ठा, विश्वास और प्रामाणिकता पर विशेष आग्रह रहता है। इनके इतिहास-दर्शन में बौद्धिक ग्लैमर मिलता है, वह निजी उमंगों से विभूषित होता है। ये सरोकारों और कर्त्तव्यों की चर्चा करते हैं लेकिन तटस्थता और उदासीनता को हमेशा बुरा नहीं मानते। ये सृजनकर्त्ता के रूप में, सृजनवस्तु के निर्देशक के रूप मे तथा मूल्य-निर्णायक के रूप में हरदम एकरस नहीं होते। समय और स्थान के अनुरूप तीनों ही स्तरों पर इनमें मतभेद भी मिल जाते हैं। वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओ के कारण इनके लेखन में बड़बोलापन और कभी उचक्कापन भी मिलता है। ये अतिशय आवेग और व्यक्तिविद्रोह के रचनाकार हैं।

ये विचार-संवेदन के रचनाकार हैं जो निजी चेतना के निर्णय को प्रामाणिक मानने है। वे किसी वाह्यानुशासन की प्रतिबद्धता में विश्वास नहीं करते। प्रतिबद्धता से इनका आत्मस्वातन्त्र्य स्खलित होने लगता है। इसीलिये वे किसी भी घटना के सत्य का ऐहसास करते हुये, उसकी प्रामाणिकता खोजते हुये अपनी तात्कालिक प्रतिक्रियाओं को प्राथमिकता देते हैं। हर प्रकार के विकल्प में स्वतन्त्र रहने का उद्देश्य ही इनका अभीष्ट होता है। इस प्रकार ये सभी अन्तरात्मा की बौद्धिक-पुकार के रचनाकार हैं। इनके इतिहास-बोध में क्षण और मूड के सघन दबावों से, स्वतन्त्र घटनाओं, संदर्भों, दृष्टांतों के स्वायत्त आकार बनते हैं जिनके घटित होने और यथार्थ होने का कारण भी परस्पर के नियमों के आधीन नहीं होता इन रचनाकारो ने आज के

इस विशृंखल और अनैतिक युग में आन्तरिक एकालाप को पकड़ने की कोशिश की है।" (मछली घर) लेकिन इस आन्तरिक एकालाप में परम्परावादी दर्शन और ज्ञानातीत, भावातीत दशाओं का कोई स्थान नहीं होता, उसके पूर्वकल्पित आकारों का महत्व नहीं होता फिर भी उसकी अभिव्यंजना में आद्यरूपों, पुरा-मिथकों, प्रतीकों का बाहुल्य होता है। इन रचनाकारों ने संवेद्य-वस्तु की वास्तविक स्थिति को निर्धारित करने वाली बाह्यांतरिक संगति को नहीं समझा है। इसीलिये इनकी रचनात्मक संभावनायें अस्पष्ट और चंचल होती हैं। इनकी शिल्प और वस्तु व्यवहारवादियों जैसी लगती है, वह काफी तुर्श और तेवरवाली होती है।

इन रचनाकारों की मान्यता है कि "विचार तत्व इतिहास की विकासवादी परम्परा से पैदा होता है और उसी प्रक्रिया में परिपक्व होता है।" इतिहास में मनुष्य और प्रकृति का संघर्ष ही नहीं मिलता बल्कि दोनों में मैत्रीभाव भी मिलता है। इनका कहना है कि मनुष्यता कुल मिलाकर "बुद्धि के निरन्तर विकास का परिणाम है।" और इन्द्रियानुभववादी विश्वासों से मनुष्य के यथार्थ जगत की सृष्टि होती है। इनके सांस्कृतिक आदर्शों में डार्विनवाद तथा प्रकृतिवाद की अनेक विशेषतायें मिलती हैं। ये डार्विनवादी मानववाद के रचनाकार हैं।

सामाजिक प्रजातन्त्री चेतना का रचनाकार शब्द-सजग और माध्यम-सजग होता है। लेकिन ये शब्द और अर्थ के विकासवादी नियमों को महत्व देते हैं। ये स्वभाव से प्रयोगधर्मी होते हैं। इनके विचारदर्शन में नाना प्रकार के गुणों, धर्मों की समन्वयात्मकता मिलती है। ये अधिकतम मनोवृत्तियों के सामंजस्य की कला में निपुण होते हैं। ये स्वतःस्फूर्त समष्टिवादी चेतना के मार्गदर्शक होते हैं। इनमें परिवर्तन, क्रियाशीलता तथा गतिशीलता का प्रबुद्ध और उच्चाकांक्षी मनोभावों का रूपायन होता है।

(ऊपर के तीन परिच्छेदों के कुछ मुद्दे इन्साइक्लोपीडिया-सोशल साइन्स, जिल्द, ग्यारह-बारह के पोजैटिविज़्म-प्रैग्मैटिज़्म से लिये गये है।)

राजनीति में सोशल डेमाक्रेट्स की भूमिका बेहद अनिश्चयात्मक रही है। ये चौंकने और चौंकाने वाली राजनीति में भी विश्वास करते हैं। आवश्यकता और स्वतन्त्रता के संदर्भों में इन्होंने न्याय की अनुभववादी पद्धति को स्वीकार किया है। इसीलिए जन-संघर्ष के यथार्थ प्रश्नों को नही समझ पाते, जनता के साथ साझेदारी नहीं कर पाते तथा स्वचेतना को जनता की सामूहिक चेतना में विलीन नहीं कर पाते—वे सादृश्यता की तलाश में रहते हैं। इसलिए जनता का यथार्थ उन्हें निम्न स्तर का लगता है। ये वर्गरहित होने में नहीं बल्कि "बिरादरी के कुलों और महाकुलों" में विश्वास करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इनकी अराजकता के नमूने मिलते हैं। उन्होंने बौद्धिक उत्पात मचाया है। कविता और कहानी में श्रीकांत वर्मा क्या फ़ासीवादी राजनीतिक मुद्रा के नहीं दिखाई देते? उनकी रचना मे अहं का विस्फोट होता है।

उनमें अस्वीकृतियों का दर्प है। रघुवीर सहाय की समकालीनता का केन्द्रीय विचार ही गायब है, उनमें बहुलवादी सनक और 'खास क़िस्म की ज़िद्द' और फूहड़पन मिलता है। सहज-भाव का विद्रूपीकरण और सांस्कृतिक-तत्व की उपहासास्पद अभिव्यक्ति कोई कला नहीं होती। इसे मध्यवर्गीय मानसिकता वाले एक भरे-पुरे व्यक्ति की मनुष्य को दी गई गाली कहा जा सकता है। राजनीति के प्रति फूहड़ बनकर उसकी विसंगति के चित्र बनाना, जीवन के निषेध का ही एक आयाम है, जो घातक होता है। दीर्घकाल तक राजनीतिक पत्रकारिता में रहकर भी उन्होंने किस तरह का अनुभव ग्रहण किया है? उनकी रचनाओं से स्पष्ट होने लगता है। कार्टून बनकर और जनता को कार्टून बनाकर कुछ हासिल नहीं किया जा सकता। विजय देवनारायण साही के चिन्तन में तथा उनकी कविताओं में उच्चाशयी अहंकार की प्रशस्ति दिखाई देती है। साही ने आस्थावान् बौद्धिक होने का पोज़ दिया है। इसमें कोई शक़ नहीं कि उनके अनावश्यक गाम्भीर्य में लालित्य छलकता है। शिवप्रसाद सिंह की परिणति अरबिन्द बोध और अस्तित्ववाद में होती है। हालांकि "अलग-अलग वैतरणी" की वस्तुदृष्टि के आधार पर लगता था शिवप्रसाद सिंह को जनता के यथार्थ की गहरी समझ है, वे जनता से दूर नही हैं, उसके साथ हैं लेकिन "गली आगे मुड़ती है" में वे जाज़ संगीत बजाने लगते हैं—कुछ सिनेमाई से हो जाते हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा ने सोशल डैमाक्रेटिज्म के साहित्य सिद्धान्तों को सँवारने-सुधारने का बीड़ा उठाया था। लेकिन नई कविता के प्रतिमान में धुआँ छोड़ने लगे। वे साहित्यशास्त्र के तांत्रिक बन गये। प्रतिमानों के मंत्र बनाने लगे। उनमें ज्ञान और अहं के आत्मपरक चक्रवात का आलोड़न-विलोड़न दिखाई देता है। लक्ष्मीकांत वर्मा सर्वाधिक अस्पष्ट और गुह्य-विचारों के रचनाकार रहे हैं। "अतुकांत" में अन्तर्विरोधों में सामंजस्य की कला को रचा गया है। "खाली-कुर्सी की आत्मा" उपन्यास में आधुनिक परिवेश के खोखलेपन की त्रासदी को स्पष्ट किया गया है। लक्ष्मीकांत वर्मा रिक्तता-अर्थहीनता के बोध से पीड़ित हैं वे हर क्षण नियति-त्रासदी की बौद्धिक व्याख्या करते हैं और आधुनिक मनुष्य को अभिशप्त मानते हैं। लक्ष्मीकात वर्मा ने आधुनिकताबोध को मूर्तिमान करने वाले मुहावरे रचे हैं—वे नई वैचारिक के पक्ष में दलीलों पर दलीलें दे सकते हैं। नई रचना का रूपवाद उनकी सीमा बनकर रह गया है। जगदीश गुप्त प्रागैतिहासिक-बोध के रोमांटिक-छविकार या चित्रकार है। वे रीतिकाल विशेषज्ञ हैं। उन्हें रस की शैली वैज्ञानिक काव्य धारणा का प्रस्तोता कहा जा सकता है। वे नई कविता के रूपवाद्र के मीमांसक रहे हैं। आधुनिक सांस्कृतिक परिवेश के बदलते हुए रूपों और रंगों की गहरी समझ और चालाक़ पकड़ अशोक बाजपेयी की है। सोशल-डैमाक्रेटिज्म की संस्कृति का सारतत्व अशोक बाजपेयी की समीक्षाओं में मिलता है। अशोक के चिन्तन में खुलापन है वे अपने संस्कृति-बोध को होशियारी के साथ उचित और ज़रूरी आयामों तक ले जा सकते हैं उनकी समीक्षा

दृष्टि विकासमान है, रूपवादी पूर्वाग्रहों से जकड़ी नहीं है। उनके लेखन में व्यवस्था और संतुलन है। वे पढ़े-लिखे और गुने हुए समीक्षक हैं। उसकी लेखन पद्धति और वस्तु में अंतरंग कोटि की एकरसता है। वे अपनी समीक्षा में आधुनिक राजनीति का स्पर्श करते हैं और तुरन्त ही कला तथा भाषा के प्रसंगों में आगे बढ़ जाते हैं। कोई भी नव-वामपंथी उन्हें अपनी बिरादरी का मान सकता है। वैसे अशोक बाजपेयी ने युग और समाज के संदर्भ में व्यक्तिवाद को गौरवान्वित किया है। उन्हें युवा तुर्क-साहित्य समीक्षक कहा जा सकता है। इस बिरादरी के रचनाकारों में सर्वेश्वर दयाल की स्थिति कुछ भिन्न प्रकार की है। सर्वेश्वर के रचना-चिंतन में भारत के लोकजीवन की सामाजिक स्वतन्त्रता के लिए फ़िक्र है। सर्वेश्वर ने आज़ादी के बाद की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताओं को समझा है। उनका अपना एक विशद् विज़न है लेकिन सामाजिक संरचना और व्यवस्था के प्रति वैज्ञानिक तर्क के अभाव ने उनकी अन्तर्दृष्टि को कबूतरखानों में विभक्त कर दिया है। वे व्यक्ति और संस्थान, व्यक्ति और प्रतिष्ठान अर्थात् व्यक्ति और उसके परिवेश को आमने-सामने कर देते हैं। उनका व्यक्ति आंचलित परिवृत्त की चेतन इकाई बनकर रह जाता है। उसके आगे अपनी स्थिति और महत्ता को प्रतिपादित नहीं कर पाता। कविता, कहानियों की अपेक्षा "बकरी" नाटक में उनकी रचना व्यंग्य अधिक ठोस और यथार्थवादी है।

द्वन्द्वात्मक-नियमों से अपरिचित होने के कारण अथवा उनकी अवहेलना के कारण इन सभी सोशल-डेमाक्रेट्स के रचनात्मक तर्क कुछ दूरी तक बढ़कर ठहर जाते हैं, स्थिर हो जाते हैं। उनकी स्थापनायें यांत्रिक सी होने लगती हैं जिन्हें वे अन्तिम सत्य मान लेते हैं। ये संश्लिष्टता और समग्रता का भेद नहीं कर पाते। ये वस्तु की अपेक्षा रूप को प्राथमिकता देते हैं लेकिन दोनों की अंतरंग प्रगतिमानता को नही मानते। वस्तु के निरन्तर सृजनशील होने और उसमें अगणित सम्भावनाओं के उस द्वन्द्वात्मक नियम को भूल जाते हैं जिसमें मनुष्य अपने भौतिक परिवेश के साथ संघर्ष करता हुआ, निरन्तर नवीनता को ग्रहण करता हुआ, अपने यथार्थ को रचता हुआ, एक समग्र विश्वदृष्टि को उपलब्ध करता है। इसी प्रक्रिया से वह अपने संस्कारो को अर्जित करता है।

डार्विन के ऐतिहासिक विकासवाद तथा कार्लमार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिक नियम में कोई संगति नहीं है। डार्विन ने सीधे जंगल से या प्रकृति से मनुष्यता को पैदा किया है और उसके विकासवाद की कल्पना की है। कार्लमार्क्स ने मनुष्य और प्रकृति के संघर्ष से अर्थात् सामूहिक कर्म के नियमों से मानवीय इतिहास को, संस्कृति और मनुष्यता को विश्लेषित और मूल्यांकित किया है। यहाँ डार्विन की आकस्मिकताओं और नैसर्गिकताओं का स्थान नहीं है यहाँ तो आवश्यकताओं और [illegible] का महत्व है यहाँ [illegible] की प्रक्रिया का नहीं

बल्कि आर्थिक-सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये गये श्रम का महत्व है। क्या यह सत्य नहीं है कि डार्विन के मार्ग से मनुष्य ने अध्यात्म को खोया है, नैतिकता को आरोपित माना है? क्या डार्विनवाद ने ईसाई-धर्म-दर्शन के मर्म पर चोट नहीं की? मार्क्सवाद ने नैतिकता को जीवन के वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक नियमों के आचरण का आधार दिया है। मार्क्सवाद ने विज्ञान, टेक्नालॉजी और औद्योगिक विकास के नैरन्तर्य्य मे जिस सामाजिक-मनुष्य की धारणा को ठोस आधार दिया है, क्या उसमें मानवीय अध्यात्म की विभूतियाँ नहीं हैं? अध्यात्मक को मानवमात्र के जीवन में प्रवाहित होने दो, उसे डाग्मा मत बनने दो। मानवमात्र की संगठित क्रियाशक्ति ही मानवीय चेतना है, उसे पृथक् मत करो—टुकड़ों में विभक्त मत करो—मार्क्सवाद की उपलब्धियो को छोटा करके मत आँको, मनुष्यता का भविष्य उसी में है।

मार्क्सवाद तो विज्ञान-तकनालॉजी के युग के मनुष्य का नैतिक अनुशासन है, उसमें मनुष्यता का उद्देश्य स्पष्ट होता है। यदि धर्म का अर्थ वही है जिससे मानवीय शोषण का उदात्तीकरण हुआ है या मनुष्यता आत्मनिर्वासित हुई है और मनुष्य के नियम-कर्म के प्रति बेखबरी का भाव पैदा हुआ है तो विज्ञान के युग में धर्म अपनी गुणात्मक विशेषताओं के साथ हीन और दमित हो चुका है। अतः विकल्प के रूप मे मार्क्सवादी नैतिकता है। अभी भी समय है कि भारतीय समाज को रचनात्मक शिक्षण दिया जाये? विज्ञान की समाजवादी-संस्कृति के गुणों को समझाया जाये। इसी मार्ग से भारत के सांस्कृतिक पिछड़ेपन को तथा उसकी अहंकारमयी हेकड़ी को दूर किया जा सकता है।

डार्विनवादी जूलियन हक्सले ने मानववाद पर कई किताबें लिखी है। उसने मनुष्य की नैतिक समस्याओं पर भी विचार किया है। विज्ञान युग के, मशीन युग के संदर्भ में मानवीय भविष्य की चिन्ता भी की है। जूलियन हक्सले ने नस्लवादी, सम्प्र-दायवादी आनुवांशिक प्रभावों की रक्षा करते हुए भी सामाजिक नैतिकता को क्रमबद्ध विकास की कसौटी पर कसा है। उसने विकासवाद की द्वन्द्वात्मकता का नियम बनाया है जिसमें इतिहास, समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। उसने नैतिक-विकास को चार अलग-अलग लक्षणों में रेखांकित किया है। राजनीतिक, व्याव-हारिक, बौद्धिक या मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक विभूतियों को अनुकूल बनाया है। जूलियन हक्सले ने क्वालीटेटिव मैकेनिज्म के सिद्धान्त से सभ्यता में उत्पन्न संकटों का तथा उनसे उबरने का ब्यौरा पेश किया है।* "नई कविता" अंक-सात में आधुनिकता : स्वरूप और प्रयोजन पर जो बहस चलाई गई है तथा जगदीश गुप्त और लक्ष्मीकांत वर्मा ने समय-समय पर मानवाद पर जो विचार प्रकट

*Julian Huxley : Evolution and Ethics, page 227.

किये हैं उन सभी पर डार्विनवादी जूलियन हक्सले के मानसवाद की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। इस तरह हिन्दी के अधिकांश सोशल-डैमोक्रेट्स डार्विन के बौद्धिक हैं। वे जूलियन हक्सले के स्वयंसेवक हैं। इनमें प्रजातन्त्री-विचारधारा के विद्रूप मिलते हैं।

इन सभी ने खूब पढ़ा-लिखा है। किताबों का मंथन किया है। अपने विशिष्ट ज्ञान और स्वानुभव के आधार फेंटा लगाया है कि अहंकार के झाग पैदा होने लगते हैं। ये सभी इन झागों की मौलिकता में आस्था रखते हैं; उन्हें प्रामाणिक मानते हैं। ऐसे रचनाकार अपने निजी अन्तर्विरोधों के ज़हर से अभिशप्त है जो तड़पने का विचारोत्तेजन कहते हैं। इन्होंने रचनात्मक अपव्यय किया है। ये सभी अन्वेषक हैं, प्रयोक्ता हैं तथा प्रतिमान निर्माता हैं। अज्ञेय ने तीनों "तारसप्तकों" में जिन-जिन सैद्धान्तिक मुद्दों को उठाया है उनकी व्याख्या-समीक्षा इन सभी नये रचनाकार-आचार्यों ने की है। इलाहाबाद का "परिमल स्कूल" इस कार्य में अग्रणी रहा है।

मानवधर्मिता को आधुनिकता का आनुषंगिक पहलू मानते हुये प्रथम तारसप्तक मे अज्ञेय ने प्रयोगवाद की बुनियाद डाली थी। प्रथम तारसप्तक के समवयस्क कवियो को सैद्धान्तिक आधारों से नकारना कठिन था इसलिये अज्ञेय एक योजनाकार के रूप में बोलते हैं। वे रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध और नेमिचंद्र जैन के सामने सिद्धान्तों को बघारने का साहस नहीं कर पाते। इसीलिये कवि को अन्वेषक, प्रयोक्ता भर कह पाते हैं। अज्ञेय उक्त तीनों रचनाकारों के परिप्रेक्ष्य से परिचित थे। उन्हें भारतभूषण अग्रवाल के वस्तुपक्ष की भी जानकारी थी। लेकिन दूसरे और तीसरे तारसप्तकों में अज्ञेय आचार्य बन जाते हैं। वे योजनाकार की सीढ़ी से चढ़कर सिद्धान्तकार की मंजिल तक पहुँच जाते हैं।

दूसरे सप्तक की भूमिका में परम्परा और नवीनता पर, प्रतिमान और मूल्यो पर, साधारणीकरण और सम्प्रेषण पर, रसतत्व और बौद्धिकता पर, अर्थतत्व और ध्वनितत्व पर, सार्थकता और प्रभावपक्ष पर, माध्यम और अर्थ की प्रतिपत्ति पर, वस्तु-सत्य और व्यक्तिसत्य पर, प्रासंगिकता और समकालीनता पर तथा संभावना और उप-लब्धि पर चिंतन करते हैं। तीसरे सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने नई रचना के काव्य शास्त्र को और प्रशस्त किया है। उसे युग और समाज के संदर्भ दे दिये हैं। नई रचना और नये रचनाकार की शक्ल को बनाये रखने पर जोर दिया है। नई परिस्थिति के स्वायत्तीकरण की समस्या और बुद्धिव्यापार के द्वारा नई कविता को समझने की प्रेरणा दी है। नई कविता का अपने पाठक के और स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व हैं, इसे स्पष्ट किया है। नई-कविता को "काल की प्रतिनिधि और उत्तरदायी रचना प्रवृत्ति" कहा है, वह "समकालीनता को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करना" चाहती है—इसलिए अज्ञेय ने कवियों को एक दूसरे के आलोचक बनने पर आग्रह किया है। उन्होंने कहा है छोटे छोटे प्रयास आस्था की घोषणा करते है वे एक शक्ति के लक्षण हैं और मूल्य-

दान की उपेक्षा न हो, इसके लिए चिन्ता प्रकट करते हैं।" तीसरे सप्तक में विषय और वस्तु का भेद किया है। नवीनता और मौलिकता में भेद किया है। वे संवेदनतीव्रता और अनुभव की परिपक्वता को समझते हैं। तीसरे सप्तक में वे भाषा पर भी बोलते हैं—प्रयोगशीलता को भाषा का प्रथम-आयाम मानते हैं। प्रत्येक शब्द के अपने वाच्यार्थ, अपनी लक्षणायें और अपनी व्यंजनायें होती हैं। अज्ञेय ने शब्द के प्रति नई मानववादी दृष्टि की वकालत की है। यहाँ उन्होंने सम्प्रेषण के साधन और तन्त्र की पड़ताल पर जोर दिया है तथा 'व्यक्ति-वैचित्र्य' की गुंजाइश पर ध्यान दिया है। इस तरह अज्ञेय ने दूसरे और तीसरे तार-सप्तकों में सामाजिक-यथार्थ, वैज्ञानिक-नज़रिये और प्रजातांत्रिक जीवन मूल्यों के विरुद्ध जिहाद बोल दी थी।

इतिहास-तत्व और यथार्थवाद को नकार कर जिस समकालीनता और बुद्धितत्व की वकालत अज्ञेय ने की तथा स्वतःस्फूर्त व्यक्ति सत्य के अन्वेषण-सम्प्रेषण की जो चर्चा अज्ञेय ने चलाई उसका सारतत्व अप्रजातांत्रिक है। अज्ञेय की रचना-संस्कृति की कोई नागरिकता नहीं है। अज्ञेय ने आधुनिकताबोध को एक उपभोक्ता की हैसियत से ग्रहण किया, उसे अपनी निजी प्रतिभा की कीमत से खरीदा। खरीदे हुए माल पर दूसरे के सरोकारों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे और तीसरे तारसप्तकों के द्वारा अज्ञेय ने साहित्य और संस्कृति में तटस्थतावादी, निरपेक्षतावादी दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया और चालाकी तथा कौशल के साथ शीत-युद्ध की रणनीति को रचना-संस्कृति में उतार दिया।

परिमल स्कूल के आचार्यों ने मुख्य रूप से लक्ष्मीकांत वर्मा, डॉ० रघुवंश और जगदीश गुप्त ने अज्ञेय के द्वारा उठाये गये प्रश्नों की व्याख्यायें की हैं, उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है। अज्ञेय ने सूत्र रचे हैं, इन सभी ने इन पर टीकायें लिखी हैं। इनके अतिरिक्त उस समय के 'प्रतीक में', 'आलोचना में', 'युग-चेतना में' जो लेख मिलते हैं उन पर अज्ञेय-इलियट का प्रत्यक्ष प्रभाव मिलता है। भारती के "मानव-मूल्य और साहित्य" में अज्ञेय के द्वारा किये गये कर्म को आगे बढ़ाया गया है। उल्लेखनीय बात यह है कि आज भी ये सब उन्हीं प्रश्नों के इर्द-गिर्द हैं। अन्तर इतना है कि अज्ञेय मौन हो गये हैं, मानसरोवर के हंस हो गये हैं तथा ये रचनाकार-समीक्षक इलियट से आगे बढ़ कर पश्चिम के संरचनावादियों और शैली-विज्ञान के आचार्यों की निष्पत्तियों तक पहुँचने लगे हैं। इन्होंने एकैडेमिज़्म को बनाये रखने के लिये रैन्सम की, आर० एस० क्रेन की, क्लीन्थब्रुक की, विमसैट (विशेष रूप से "वर्बलआइकन" पुस्तक) वीयर्डसली तथा स्पारशाट को, लीविस तथा अस्तित्ववादियों को छान डाला है। इनमें से कुछ ने तो माध्यम को रूई की तरह धुना है और कैसिरर, चामुस्की, ब्लैकमूर तथा थामस सैब्योक की स्थापनाओं से लाभ उठाया है। इनमें से एक या दो ने किताबों के रिव्यू लिखने समय डेविड डिचैज और नव-वामपंथी एरिकफ्राम, हेडारनोमारक्यूज का भी नाम लिया है

परिमल संस्थान के कुछ नये समीक्षकों ने नई रचना के एकैडैमिज़्म को इतना गरिष्ट कर दिया कि कम पढ़े-लि किन्तु अपने समाज के यथार्थ अनुभव के आधार पर लिखने वाले आश्चर्यचकित हो गये हैं। साहित्य में इस सोशल-डैमाक्रेटिज्म का ह्रास हो चुका है। रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा परमानन्द श्रीवास्तव तो कुंजी-शैली में लिख रहे हैं। लगता है जैसे क्लासनोट्स को सुधार कर छपवा रहे हैं। धनंजय वर्मा तथा रमेशचन्द्र शाह अकारण ही रोमान्टिक-दुनिया की ओर मुड़ गये हैं। हालांकि इन दोनो ने समीक्षक के रूप में अच्छा नाम कमाया था। सामाजिक परिप्रेक्ष्य के न होने से तथा यथार्थवाद की पकड़ न होने से भटकाव आते ही हैं। हिन्दी के सोशल डैमाक्रेट्स के लेखन में अब नवीनता नहीं रही है। अब तो चाय-काफ़ी घरों की बहसों में भी शरीक नहीं हो पाते। इन रचनाकारों-समीक्षकों ने जिस आधुनिकता बोध को पकड़ कर यात्रा शुरू की थी वह अपनी समकालीन-सामाजिक उपयोगिता खो चुका है, गुणहीन हो चुका है। अब तो आधुनिकता बोध की परिणति अपराध-बोध में, मानवद्रोह में हो रही है। अतः ये बेचारे व्यक्तिवाद की प्रासंगिकता को सिद्ध करने में असफल हो गये हैं। अब इन्हें साम्राज्यवादी दुनिया से कुछ मिल नहीं पा रहा है। इनमें से कुछ उत्तर-आधुनिकताबोध से चौंधियाने लगे हैं लेकिन हिन्दी-रचना इतनी परिपक्व हो गयी है कि शिगूफ़ों का असर नहीं हो पाता है। इस तरह नई-रचना के अनुभव-स्वप्नों की भाषा मे उतरने वाला समाजवाद सहम गया है। अब समाजवाद के वैज्ञानिक अर्थ को समझा जाने लगा है। रचनाकार जनवादी-संघर्ष में शरीक होने लगा। समग्र-क्रान्ति के प्रतिक्रियावादी कर्त्ताधर्त्ताओं ने सबका नशा उतार दिया है। रचनाकार सामाजिक वास्तविकता के सम्मुख खड़ा है। अब रचना में मानव जीवन को तर्क से प्रक्षालित करके, उसे भोगने की व्यक्तिवादी बौद्धिक महत्वाकांक्षाओं का समय नहीं रह गया है। अब विशिष्ट, अद्भुत और व्यक्तिवाद की जगह प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद की विचारधारा ने ले ली है।

## नव-वामपंथी रिनासा

दर्शन, कला और साहित्य के अतिरिक्त संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रयोग एक मैथाडालाजी के रूप में किया जाने लगा है। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी देशों में मार्क्सवाद की निष्पत्तियों को मानववादी समाजशास्त्र की रचना मे लाभप्रद मान लिया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बुर्जुआतंत्रों में भी मार्क्सवाद वहाँ की वैचारिक ताजगी के लिये जरूरी हो गया है, इसीलिए उसे तोड़ा-मरोड़ा जाने लगा है। पूंजीवादी पश्चिमी जगत में मार्क्सवादी विचारधारा के अनेक संशोधित रूप मिलते हैं, सभी ने वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा की सत्ता को मार्क्सवाद से बाहर निकाल दिया है। पूंजीवादी अर्थशास्त्री रोस्टोव के आर्थिक विकास के स्तर भेदों की तरह मध्य-वर्ग और श्रमिकवर्ग में दरारें डाल दी गयी हैं वर्ग-विभक्त समाज की एक अभिनव

वैचारिक बना दी गयी है। इन सभी देशों में सुनियोजित ढंग से श्रमिकवर्ग की संघर्ष-शील चेतना के लुप्त हो जाने के कारणों का मनमाने ढंग से समाजशास्त्र तैयार किया गया है। ऐसा करके मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता को मूर्खतापूर्ण चुनौती दी गयी है। लेकिन इनके निष्कर्ष न तो अपने ही समाजों के आर्थिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन मानों को रचनात्मक बनाने में सहायक हुये हैं और न ही उनके आधार पर वहाँ के समकालीन जीवन-बोध की रिक्तता और ह्रासशीलता का उत्तर दिया जा सकता है। इन लोगों ने मार्क्सवाद को मनोविश्लेषण के निकट लाने, मार्क्सवाद को नवकान्तवाद, अभिनव हीगलवाद के निकट लाने, मार्क्सवाद के निकट लाने का दुस्साहस किया है। इन्होंने मार्क्सवाद की दर्शन, प्रकृति, इतिहास और समाज विषयक वैज्ञानिक मान्यताओं को अनुभाववादी जामा पहना दिया है। उसे बदरंग कर दिया है।

यहाँ नव-वामपंथी रिनासा के सौन्दर्य-बोधात्मक रूपों पर वि.चार किया जाएगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले पूँजीवादी जगत के रचनाकारों, कलाकारों और समीक्षकों ने मार्क्सवादी मानववाद और सौन्दर्यशास्त्र पर वैज्ञानिक ढग से कार्य किया था। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध में पूँजीवाद की पराजय के कारण शोषण की व्यवस्था के संरक्षण की चिन्ता प्राथमिक हो गयी। पूँजीवादी व्यवस्था आकर्षण विहीन हो चुकी थी। जीवन-तत्वों से रिक्त हो चुकी थी। अरचनात्मक और अमानवीय घोषित हो चुकी थी। अतः उसे बचाये रखने के लिये शीत-युद्ध के तहत मार्क्सवादी विचारधारा के हर क्षेत्र में जासूसी की जाने लगी, हस्तक्षेप किया जाने लगा। अपनी बदबूदार व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिये आक्रमण की रणनीति बनाई गई। फलस्वरूप, पश्चिम की सर्वोत्तम प्रतिभा पर मार्क्सवाद का आतंक छा गया। उसका विरोध किया जाने लगा। यहीं से मार्क्सवाद की मूलस्थापनाओं में निहित वैज्ञानिकता को कुतरना शुरू हुआ। मार्क्सवाद के विरोध का कोई परिप्रेक्ष्य तो था नहीं, इसलिये प्लेटो-अरस्तु से लेकर कैथालिसिज्म और प्रोटैस्टेन्ट मान्यताओं को पकड़ा गया। कान्ट और हीगल के अभिनव व्याख्यानों को खोजा गया। डार्विन और फ्रायड की प्रकृतिवादी मनो-कायिक दृष्टि से व्यक्ति और समाज के विकासवादी, मनोविश्लेषणवादी हल प्रस्तुत किये गये तथा अनुभववादी, प्रत्यक्ष प्रमाणवादी, प्रग्मैटिक हथियारों पर धार धरी गई। अस्तित्ववादी शून्य में, अज्ञेयता में, अन्तर्मुखता में तथा विसंगतिबोध में आस्था-अनास्था के धुप-छांही चित्र बनाये गये। इसके अतिरिक्त मिथकशास्त्र और प्रतीकशास्त्र को समृद्ध किया जाने लगा। "स्वतः स्फूर्तन और आदिवासीपन" को महत्व दिया जाने लगा। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद का यह पूरा दृश्य मार्क्सवाद के विरुद्ध शीत-युद्ध की योजना को स्पष्ट करने वाला है। इस षडयंत्र में तृतीय विश्व के देश भी खिंच गये और अपने पिछड़ेपन को सिर के पीछे आँख लगाकर देखने लगे।

पश्चिम मे विलियम ऐरन ने पूँजीवादी को बचाने के लिए

व्याख्यायें कीं, लेकिन उन्हें खूब उछाला गया। इनके अतिरिक्त फ्रैंकफुर्ट-स्कूल के मार्क्सवादियों ने जादुई निष्कर्ष निकाले। इनमें हरबर्ट मार्क्यूज़ का स्थान सर्वोपरि है। मार्क्यूज़ ने उद्योग, विज्ञान और तकनालाज़ी से विकसित सांस्कृतिक संस्थानों की आलोचना की और वर्गसंघर्ष तथा सर्वहारा-बोध को गैर-ज़रूरी बताया। मार्क्यूज़ ने संस्कृति-बोध तथा सौन्दर्यबोध में जीवनतत्व और जीवन-निषेध की आत्मपरक द्वन्द्वात्मक पद्धति को प्रतिपादित किया। मार्क्यूज़ का कार्य बृहत् और बहु-विषयात्मक है। मार्क्यूज़ ने मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी नामस् पर, वैज्ञानिक-अभिवृत्ति पर और वस्तुनिष्ठ स्थापनाओं पर कुहासा छाने की कोशिश की। मार्क्यूज़ ने मार्क्सवादी सृजन के सक्रिय और अनिवार्य कारकों को अमूर्त बनाने की जी तोड कोशिश की, खूब हेर-फेर की। मार्क्यूज़ की तरह अन्य नव-वामपन्थियों ने उस कार्य को बहुमुखी बनाया। नौबत यहाँ तक आगयी कि नव-वामपन्थी प्रकाशनगृह से मार्क्स और ऐंगेल्स को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर दिया गया। नव-वामपन्थियों ने मार्क्सवाद को वेदान्तिक ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया तथा बौद्ध-धर्म-दर्शन से तुलनीय बना दिया। इन नव-वामपंथियों ने लेनिन को अपने विचारों से पूर्णतया बाहर रखा है।

लेकिन षडयन्त्र और हस्तक्षेप की नीतियाँ सामायिक चमत्कार भले ही पैदा करती हों, इतिहास की भावी गति में शीघ्र ही विलीन भी हो जाती है। जिसके पास मार्क्सवाद की वैज्ञानिक विश्वदृष्टि है, जो डाग्मैटिक नहीं हुआ है तथा जो ऐतिहासिक वस्तुवाद के नैरन्तर्य में विश्वास करता है, साथ ही जिसने लेनिन के विचारधारात्मक निष्कर्षों से दुनिया को बदलते देखा है, वह नव-वाम के दिलखुश झांसे में नहीं आ सकेगा।

हिन्दी में अनेक मार्क्सवादी रचनाकार और समीक्षक हैं जो नववामपन्थ के खूबसूरत पोथों से निष्कर्ष निकाल-निकालकर साहित्य के इतिहास तथा नूतन-रचना-दृष्टि को भ्रमित करने में लगे हैं। इन नव-वामपन्थी समीक्षकों का विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों पर प्रभाव है। ये सोचते हैं कि इन्होंने पुरानी काव्यशास्त्रीय जड़ता को समाप्त कर दिया है। शास्त्रवाद और स्वच्छन्दतावाद को आधुनिकता-बोध से पुर्नमूल्यांकित किया है और उसमें सामाजिक जीवन की महत्ता का प्रतिपादन किया है। रचना और समीक्षा के प्रगतिशील-समाजशास्त्र की चर्चा करने वालों की जमात इकट्ठी हो गयी है। लेकिन नव-वामपन्थी प्रगतिशीलता और अतिवामपन्थी जनवादिता के सम्मोहन में वैज्ञानिक-समाजवाद की सृजनधर्मिता का अभाव रहता है। नववाम और अतिवाम वैज्ञानिक समाजवाद का विकल्प नहीं हो सकता। दोनों पूंजीवादी-व्यवस्था की सेवा करते हैं। प्रथम की सेवा उच्च गौरव पाकर होती है तो दूसरे की सेवा विध्वंसक सैनिक-आक्रोश में होती है। वर्ग-सङ्घर्ष को इतिहास के नियम और आचरण से बाहर कर देने वाले नववाम की [illegible] प्रगतिशीलता से सावधान रहना

जरूरी है। नववाम ने विज्ञान और विकासवाद के सन्दर्भ में क्रान्तिकारी चेतना को अनिश्चयात्मक बना दिया है। उसने सम्बद्धता और प्रतिबद्धता को ऐच्छिक बना दिया है। कुल मिलाकर नववाम बुर्जुआ जीवन के प्रगतिशील सारतत्व का रिनासा है।

हिन्दी में जब कोई प्रगतिशील लेखक 'आम आदमी' की 'भीड़-बोध' की बात करता है तथा श्रमिकवर्ग की यथार्थ सत्ता में स्तर-भेदों को प्राथमिकता देता है तो उसकी सामाजिक चेतना की अन्तरंग-सङ्गति पर शक होने लगता है। प्रतिष्ठानबद्ध वर्गचेतना के आभिजात्य में व्याख्या-वृत्ति तो हो सकती है बदल देनेवाली शक्ति नहीं हो सकती। बन्दर-घुड़की वाले तेवर लेकर कमलेश्वर प्रगतिशील लफ़्फ़ाज ही कहे जायेंगे। इनके अलावा कुछ नये लेखकों ने भी वर्ग-विचार को तोड़-मरोड़ कर अमूर्त बनाया है और समाज के बढ़ते हुये अन्तर्विरोधों को भ्रमित किया है। क्रान्तिकारी प्रतिबद्धता के नाम से रणनीति और कार्यनीति के नक्शे तैयार किये गये हैं। क्रान्तिकारी उद्देश्य की पूर्ति के नाम से टुच्चपुंजिया मध्यवर्ग की अराजकता फैलायी गई है। इन्होंने इतिहास और संस्कृति को अपनी रुचियों का विषय बनाकर कांट-छांट की है। समकालीन-भौतिक परिवेश को नकारते हुये सांस्कृतिक-रचनाशीलता को नकारा है। इतिहास और संस्कृति में संयुक्त-मोर्चे लगा दिये हैं, इस तरह इनका इतिहास बोध अनुर्वर है। ऐसे वामपंथी लेखक अपनी स्थापनाओं में अबौद्धिकता और आकस्मिकता से मुक्त नहीं हो सके हैं।

हिन्दी में अनेक कहानीकार और उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपने सांवेगिक-विस्फोट से रचित पात्रों के माध्यम से क्रान्ति करा दी है। इन पात्रों की सामाजिक यथार्थता संन्दिग्ध दिखाई देती है, वे समकालीन परिवेश की चेतना को आत्मसात किये हुये नहीं हैं, जनता के जीवन के हमसफ़र भी नहीं हैं। ऐसे पात्रों में क्रान्तिकारी विचार आरोपित सा दिखाई देता है जिससे एकाएक छिटकन पैदा हो जाती है। पूरे समाज को वर्ग-सङ्घर्ष के मुहाने पर खड़ा करने की तैयारी लेखक और रचनाकार अपनी भावुक सदइच्छा के कारण कर लेते हैं, इससे दूरगामी नुकसान होता है। पूर्व-निर्धारणाओं से समाज को नहीं बदला जा सकता। क्रान्ति, झटकों से नहीं होती है। हमें गोर्की की रचना-दृष्टि को पकड़ना चाहिये। प्रेमचन्द के यथार्थवाद से सीख लेनी चाहिये जिन्होंने अपने कथापात्रों के माध्यम से हिन्दी-प्रदेश की जनता में नव-जागरण की चेतना फूंक दी तथा बाद में समाजवाद के प्रति नई आस्था जगा दी।

हिन्दी की समकालीन समीक्षा में भी वाम विचार की अपच है। वह अहं को सूत्रपाती है। कुछ मार्क्सवादी समीक्षक तो इतना पढ़े-लिखे हैं और अपटूडेट हैं कि जनता की सीधी-सादी हिन्दी में लिख ही नहीं सकते हैं। वे हिन्दी गद्य में मार्क्सवादी मंत्रों और सूक्तियों की रचना करते हैं। उनकी भाषा-अभिव्यञ्जना से आतंक छाने लगता है। कुछ समीक्षक ऐसे भी हैं जो अपनी बहक और सनक में विचारधारा से प्रतिबद्ध होते और क्रान्तिकारी आचरण का लेखन करने लगते हैं। ऐसे समीक्षक हस्तक्षेप की भाव

में बोलते हैं और अपनी कैफ़ियत दर्शाने के लिये हलफ़नामों का सहारा खोजते हैं। बुर्जुआ व्यक्तिवाद इनका सुरक्षा कवच है। लेकिन गोली दागने की साहसिकता से मार्क्सवाद का कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे अपने टुच्चे और नकली आभिजात्य के गुस्से में शब्दों की गोली चलाते हैं। ऐसे समीक्षक मनुष्य के प्राकृतिक और ऐतिहासिक सम्बन्धों के अन्तर को नहीं समझ सके हैं। इनके द्वारा विश्लेषित अन्तर्विरोध भी इनकी वैयक्तिक विचार-उत्तेजनाओं के परिणाम होते हैं।

कुछ ऐसे भी समीक्षक हैं जो मार्क्सवादी सौंदर्यबोध के नाम पर भाषाशास्त्र, शैलीविज्ञान और रूप-संरचनावाद का आश्रय ले रहे हैं। हिन्दी के मार्क्सवादी सौंदर्य-परिप्रेक्ष्य को रूपवादी बनाने का कार्य आरम्भ हो गया है। इस कार्य से मार्क्सवादी रचना-वस्तु के ग्रहण की प्राथमिकताओं पर रोक लगने लगी है। मार्क्सवादी रूप-शैली-संरचनावाद से हिन्दी-साहित्य के इतिहास-दर्शन की द्वन्द्वात्मक समझ भी अभि-व्यञ्जनावादी हो जाएगी, वह आदर्शवादी अर्थतत्व-मीमांसा तक सीमित रह जायेगी। ऐसा करने से साहित्य के इतिहास की यथार्थवादी चेतना के सक्रिय द्वन्द्वों का लोप होने लगेगा। अतः जरूरी है कि मार्क्सवादी भाषा संरचना में ट्राटस्कीवाद का कोई स्थान न हो। हमें स्टालिन की भाषा-नीति के द्वारा अपने साहित्य की सारवस्तु को प्रतिपादित करना चाहिए। साथ ही आस्ट्रो-मार्क्सवाद, फ्रैंकफुर्टियन मार्क्सवाद तथा बुडापेस्ट के मार्क्सवाद से सावधान रहना चाहिये। फ्रैंकफुर्टियन मार्क्सवादी स्कूल ने तो मार्क्सवाद को हीगलवाद से भी पीछे कर दिया है। हिन्दी में नव-वामपन्थी रिनाशा और उग्र वामपन्थी भटकाव की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं, इनका वैज्ञानिक विश्लेषण होना चाहिये।

## लोकतन्त्री जीवन-तत्व वाली रचना और जनवादी विचारधारा

डॉ० नामवरसिंह ने "अलोचना" के सम्पादकीय में डॉ० पी० सी० जोशी के लेख "सामाजिक परजीवीपन और आर्थिक विकास" का हवाला दिया है जिसमें उन्होंने स्वातन्त्र्योत्तर भारत की अर्थव्यवस्था में विकसित सर्वग्रासी परजीवीपन का उद्घाटन करते हुये आह्वान किया गया है कि उत्पादनशील और परजीवी वर्गों के बीच राज-नीतिक सामाजिक संघर्ष के साथ ही उत्पादनशील और परजीवी-मूल्यों के बीच भी सांस्कृतिक मुठभेड़ आवश्यक है। इस मुठभेड़ का सांस्कृतिक पक्ष··· इतना महत्वपूर्ण है कि इसके बिना कोई भी सत्ता-संघर्ष सर्जनात्मक शक्ति के रूप में अपनी सार्थकता खो बैठेगा।···डॉ० नामवर सिंह ने आगे कहा है "यह सही है कि गाँवों में बसी उत्पादक जनता निरक्षर है, असंगठित है और आपाततः उदासीन तथा निष्क्रिय भी। आजादी के इन छब्बीस वर्षों में न तो उस जनता की उदासीनता को तोड़कर वर्ग-संघर्ष के लिये सक्रिय करने का सुसंगत प्रयास किया गया और न ही उसे संगठित और सुशिक्षित करके समुचित उत्पादन के अवसर दिये गये। जिस देश में इतनी बड़ी सृजनशक्ति अवरुद्ध पड़ी हो और फिर भी उससे आँखें मूँदकर यदि कोई बौद्धिक या

लेखक अपनी सृजन-कल्पना की भूमिका के पुनराधिकार की साधना करे तो उस साधना का बंजरपन पूर्व-निश्चित है। इस विशाल उत्पादनशक्ति के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के प्रयास में ही सृजन-कल्पना का उन्मोचन संभव है।" डॉ० नामवरसिंह—आलोचना २७—अक्टूबर-दिसम्बर, १९७३।

काशीनाथ सिंह ने उक्त तथ्य को जनवादी संदर्भ में आगे बढ़ाते हुये कहा है "हम जनवादी साहित्य रचने के बजाय क्रान्तिकारी साहित्य का भ्रम लिखने लगे बगैर इस बात का ख्याल किये कि यह भ्रम बड़ी आसानी से फ़ासिज्म के हित में चला जाता है, उन स्थितियों में जब इतने बड़े मुल्क की सबसे बड़ी जनसंख्या क्रान्तिकारी अगुवाओं के सम्पर्क से अलग थलग पड़ी हो। हमें संघर्षरत जिन्दगी और परिवर्तन के लिये आकुल और सक्रिय शक्तियों को गतिशील और जीवन्तरूप में विश्वसनीय ढंग से चित्रित करना था।"

"सातवें दशक के आरम्भिक दौर में उपनिवेशवादी साहित्य के फ़ार्मूलो के प्रभाव की प्रतिक्रिया में अपनी जमीन से जुड़ने के प्रयत्न और वस्तुस्थिति के दबाव के कारण सक्रिय राजनीति के साथ कंधा से कंधा मिलाकर काम करने का उत्साह" बढ़ा है। (प्रतिमान—५—जनवादी लेखन—"कितना जनवादी" काशीनाथ सिंह, १९७९—अगस्त)।

नतीजे को स्पष्ट करते हुये सव्यसाची ने कहा है "श्रमजीवी जनता की मुक्ति मे ही रचनाकार की मुक्ति निहित है और हमें रचना और संगठन की सम्पूर्ण सामर्थ्य के द्वारा मेहनतकश जनता के संघर्षों को सक्रिय सहयोग देना चाहिये।[1] क्योकि "जनता की कविता का वर्ग विश्लेषण हमें यह सिखाता है कि आज़ादी के बाद जिन्दगी के चारों ओर की उच्चवर्ग की घेरेबन्दी को तोड़ना है।"[2] कमलाप्रसाद पाण्डेय ने इसीलिये यह निष्कर्ष दिया है कि सातवें दशक के बाद की हिन्दी रचना मध्य-वर्गीय मानसिकता वाले शहरी रचयिताओं से आगे बढ़कर ग्रामीण सर्वहारा-वर्ग के पास पहुँच गयी है और सर्वहारा-बोध से सम्पन्न रचनाकार संवेदना के धरातल पर कार्य-कर्त्ता बन चुका है।[3]

"अन्तरात्मा की पुकार" और बाढ़ जैसी "लहरों" में व्यक्त होने वाला प्रजातन्त्र किसी भी प्रकार के विचारधारात्मक संघर्ष के विरुद्ध आचरण करने वाला

---

१. सव्यसाची—साहित्यकार का दायित्व—"पदाक्षेप" नवलेखन का वार्षिक संकलन—संपादक—भरत भारद्वाज।

२. विष्णुचन्द्र शर्मा—समसामयिक कविता का वर्ग-आधार—पहल १३, समकालीन कविता अंक।

३. डॉ० कमलाप्रसाद पाण्डेय—समकालीन कविता—जनचेतना की आकृति—लहर जून १९७८।

होता है। सातवें दशक के बाद की भारतीय राजनीति और अर्थनीति में गहरी विषमता दिखाई देती है, उसमें लड़खड़ाहट और टूटन दिखाई देती है। अखिल भारतीय कांग्रेस का ह्रास होता है, वह टुकड़ों में विभक्त होने लगती है और उसमें गैरप्रजातांत्रिक प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगती हैं। कुल मिलाकर भारतीय लोकजीवन गरीबी, भुखमरी, बीमारी और बेकारी के जाल में फंस जाता है। राजसत्ता में क्रूरता और जिद्दीपन बढ़ने लगता है। ऐसी हालत में प्रजातन्त्र की दुहाई देने वाले फ़रेबी चेहरों की बन आती है। लुभावने नारों की रचना होने लगती है। इस तरह के मंचों की पैदाइशी दर बढ़ने लगती है। प्रजातन्त्र के लीला-नाटक को देखकर पिछड़े संस्कारों वाली जनता हमेशा की तरह अब मूकदर्शक नहीं रही। सातवें दशक तक लीलानाटक को देखने वालों ने भी बोलना और तर्ककरना शुरू कर दिया, उनके कर्म का क्षेत्र खुलने लगा। लोकजीवन में प्रजातन्त्री अधिकार रक्षा के लिये जनवादी संघर्ष शुरू होने लगा। समाजवादी मूल्यों को वैज्ञानिक ढंग से पकड़ने की जरूरत महसूस होने लगी। किसान, मजदूर संघबद्ध होने लगे, ट्रेडयूनियन मोर्चा मजबूत होने लगा। विद्यार्थी और कर्मचारी संघबद्ध होने लगे। बुद्धिजीवी वर्ग का भी मोहभंग हुआ, वह जनता की भाषा में बोलने की तैयारी करने लगा। इस तरह सातवें दशक के बाद जनवादी, प्रजातन्त्री संघर्ष-शिक्षण की परिस्थितियाँ अनुकूल होने लगीं। जनवादी-संस्कृति के रचनात्मक स्रोत खुलने और समृद्ध होने लगे। सामूहिक श्रम की रचनात्मक संस्कृति को वरण करने की चाह बढ़ने लगी और विचारधारात्मक अनुशासन में एकताबद्ध होकर समूची जीवन-व्यवस्था को बदलने के लिये नया उत्साह बढ़ने लगा।

अब स्वतंत्रता का मतलब प्रकृति-अधिकारों की सुविधा प्राप्त करने से नहीं रहा। अब स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति उस प्रतिबद्ध आचरण में होने लगी जिसमें असमान आर्थिक-राजनीतिक पाबन्दियों से संघर्ष करने तथा मुक्ति पाने की योजनाबद्ध रणनीति बन चुकी थी। जनता में भौतिक-आर्थिक संघर्ष के लिये उत्साह बढ़ने लगा। उसकी तटस्थता और उदासीनता भंग होने लगी साथ ही वह बड़बोलेपन से भी साव-धान रहने लगी। जनता ने अपने जीवन के यथार्थ का विश्लेषण किया तथा अपनी समकालीन ऐतिहासिक, सामाजिक परिस्थितियों में अपनी सामूहिक नियति को निश्चित करने के लिये कार्यप्रणाली तैयार की और यहीं से भारतीय प्रजातंत्र में, जनवादी-लोकवादी जीवनदर्शन में संघर्षतत्व प्रमुख होने लगा।

भारत की संकटापन्न पूंजीवादी व्यवस्था की राजनीति को समझते हुये जनताने जनवादी-संघर्ष के मार्ग पर बढ़ना शुरू किया है। यह वास्तविक क्रान्तिकारी पथ है, इसे लगातार प्रशस्त करना होगा। पूंजीवादी प्रजातंत्र के उदारवाद का नकली खोल अधिक दिनों तक चढ़ा नहीं रहेगा। वह अपने क्रूरतम रूपों में नंगा हुये बगैर नहीं रहेगा अत जरूरी है कि किसान मजदूर विद्यार्थी बाबू और बुद्धिजीवी सभी ने

जितनी आज़ादी प्राप्त कर ली है, उसकी संयुक्त-मोर्चे के द्वारा रक्षा की जाए और विचारधाराबद्ध संघर्ष को बढ़ाया जाए। अब जनता की राजनीति भी रचनात्मक होने लगी है, उसका युगबोध तैयार हो गया है—यह आशावान स्थिति है। इस समूचे परिदृश्य को सातवें दशक के बाद के प्रगतिशील जनवादी रचनावृत्त में देखा जा सकता है। इसमें सोशल-डैमोक्रेट्स की तरह का आवेगपूर्ण विद्रोह नहीं है, यहाँ भाषा का रूपवाद नहीं है। भाषा की सर्वाधिक चिन्ता इन जनवादी रचनाकारों को है।

जो रचनाकार भाषा को स्वतंत्रता से जोड़ता है उसके लिये भाषा आत्मसंघर्ष का माध्यम होती है। ऐसा रचनाकार समाज और जनता की आजादी के लिये प्रतिबद्ध हो जाता है, वह निजी बौद्धिक-आवेगों से मुक्त होने लगता है। जनवादी रचनाकार ही शब्द की रग-रग का, रेशे-रेशे का जानकार होता है, वह अर्थ की हर ध्वनि का जानकार होता है क्योंकि अर्थ की सृष्टि सामाजिक जीवन में होती है। मनोगत-निर्धारणाओं से शब्द और अर्थ का संसार फैंसीफुल होता है।

इस तरह सातवें दशक के बाद की रचना में एक साथ साम्राज्यवाद विरोध, पूँजीवादी-व्यक्तिवाद का विरोध और प्रजातंत्री-चेतना का संघर्ष, अर्थवाद से आगे राजनीति-दृष्टि तक फैला हुआ दिखाई देता है। जनवादी रचना की आकृति में जनता की राजनीति के द्वन्द्ववाद का अक्स है। इसतरह जनवादी रचना के जीवनदर्शन मे मोर्चे पर लड़ते हुये समूचे समाज और राष्ट्र को अंकित किया गया है। इसीलिये उसमें प्रजातंत्री सारवस्तु की गुणात्मक-समृद्धि हुई है। जनवादी रचना ने गाँवों और शहरों की जनता में लोकतंत्री-दर्शन की जिज्ञासायें पैदा की हैं। उसमें मानसिक और शारीरिक श्रम की रुचियाँ पैदा की हैं। इस नई रचना में भीड़बोध नहीं है क्योंकि भीड़-बोध तो एक आत्मनिर्वासित निठल्लू समाज की उपहासास्पद स्थिति की देन होता है, उसमें जनता का, उसकी शक्तियों का नकार होता है। जनवादी रचना ने जनता में अनुशासन और उत्तरदायित्व की भावना पैदा की है।

यदि हमारे मन में भारत की जनता के लिये प्यार है, यदि हम भारतीय इतिहास और संस्कृति की वास्तविक चिंता करते हैं तो अब समय आ गया है कि जनवादी-प्रजातंत्र के विकास में समाज के समूचेपन को रचनात्मक बनाने की पहल करें। ऐसा करने पर ही व्यक्ति की भी रचनात्मक-संभावनायें सुरक्षित रह सकेंगी।

यदि रचनाकार ने अपने युग और समाज की समकालीन परिस्थितियों को समझकर तथा उनसे अधिकाधिक रूपों में सम्बद्ध होकर यथार्थवाद के गुणात्मक स्तर का संधान किया है तो निश्चित है कि स्वतंत्रता के संघर्ष का जनवादी पक्ष मज़बूत होगा। इस तरह की स्वतंत्रता, मूल्य के अर्थ में उपलब्ध होगी। वह सुख-सुविधा में जीने की शैली नहीं होगी। क्योंकि स्वतंत्रता मूल्य के अर्थ में सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होती है अत इसी मूल्य के लिये किये गये संघर्ष से सामाजिक सम्बन्ध भी मानवीय

होते हैं। रचना में तथा उसकी भाषा में मानवीय संवेदन तभी तक सक्रिय होता है, जब तक उसमें सामाजिक स्वतंत्रता का संघर्ष मूल्यों के निमित्त होता है।

सातवें दशक से हिन्दी का रचनाकार—प्रजातंत्र, स्वतंत्रता और मूल्यों के संदर्भ में क्रान्तिकारी विचारधारा के निकट आया है। वह राजनीति-सजग है। अब अज्ञेय और नई-रचना के आचार्यों के पास जनवादी रचना के विरोध का कोई तर्क नहीं रह गया है उनकी झोली खाली हो गयी है। उनमें से कुछ तो बहुत काईयाँ हैं जो उत्तर-आधुनिकता-बोध को उछालना चाहते हैं।

खतरनाक बात यह है कि प्रजातंत्र, स्वतंत्रता और मूल्य का उपयोग अपनी सुख-सुविधा के लिये करने वाले व्यक्तिवादी, पूँजीवादी-व्यवस्था के रचनाकार और बुद्धिजीवी फ़ासीवादी होते जा रहे हैं। हिन्दी के अधिकांश रचनाकार या तो व्यावसायिक और सिनेभाई हो गये हैं या फिर ज़िद और सनक में आकर अपनी महत्वाकांक्षाओं की तुष्टि के लिये देश की फ़ासीवादी शक्तियों से सांठ-गांठ कर रहे हैं। वे जनशक्ति के विरोध में खड़े होने लगे है। जनवादी रचनाकार इन खतरों की नोटिस ले रहा है। क्योंकि जनवादी रचनाकार और बुद्धिजीवी ने सामाजिक तर्क और न्याय का मैदान जीत लिया है, वह विकल्प की लड़ाई के लिये प्रतिश्रुति है। उसने इतिहास के परिप्रेक्ष्य में लोकतंत्री-जीवनदर्शन को आत्मसात किया है।

और अंत में—

"एक बीज है
मिट्टी की सतह के नीचे
जो पतझर की चुप्पी के विरुद्ध
कुनमुना रहा है।
टूट रहा है रचना के अन्तर्तत्वों का गणित
और बिखरने को है वस्तु के ज्यामितिक
आकारों का संसार
विस्फोटित होगी यह चुप्पी
और गति के गुणात्मक प्रकाश में
अभिव्यक्त होंगे खनिज
अपनी पूरी ओजस्विता में

—राजेश जोशी "पहल" १३
(समकालीन कविता अंक)

# आधुनिकता-बोध बनाम संस्कृति-बोध

ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक क्रियाकलापों के क्षेत्र में रचनात्मक विश्वास और प्रामाणिकता के लिये ठोस और यथार्थवादी प्रयत्न करना अब जरूरी हो गया है। यदि ऐसा नहीं किया तो अपनी दीर्घकालीन ऐतिहासिक, सांस्कृतिक विरासत को निश्चेष्ट और स्थिर होने से बचा नहीं सकेंगे। हर देश में मनुष्य की संस्कृति का अपना स्पष्ट और ज्ञात इतिहास रहा है, उसके सृजनशील स्रोतों की वस्तुनिष्ठ परिस्थितियाँ रही हैं---लेकिन इस इतिहास की आवश्यकता और उपयोगिता को वैज्ञानिक ढंग से समझने की कोशिशें नहीं हुई हैं। इसीलिये संस्कृति की सही और यथार्थ पहचान में अनेक बाधायें आयीं, फलस्वरूप, मानवेतर दृष्टियां सक्रिय और प्रभावशाली रही हैं।

संस्कृति की पहचान के लिये किये गये प्रयास या तो प्रकृतिवादियों जैसे रहे हैं या आत्मवादियों जैसे—प्रकृतिवादी धारणाओं और आत्मवादी शैलियों में इतिहास-चिंतन और कर्म माईथालाजी में रूपान्तरित होता गया है। आद्यरूपों में, मिथकों में इतिहास निर्द्वन्द्व और स्वच्छन्द होता गया है। यही दुर्भाग्य है कि इतिहास-प्रक्रिया मानवीय अनुशासन से पृथक होकर अपने भौतिक परिवेश और यथार्थवादी आचरण से मुक्त होकर माईथालाजी में केन्द्रित होती गयी। अर्थात् मनुष्य की युग-संदर्भिता और सामाजिक प्रतिबद्धता स्वच्छन्दतावदी, स्वेच्छाचारी ढंग से अमूर्त होती रही है।

जब कभी भी इतिहास का विचारधारात्मक यथार्थ शिथिल और स्थिर होने लगता है तो पौराणिक मिथिकों की श्रृङ्खलाबद्ध सृष्टि होने लगती है, इतिहास के स्रोत निजंधरी-गाथाओं और दंतकथाओं में भ्रमित होने लगते हैं। इतिहास फ़ैंटेसी बनने लगता है जिसमें अनेक प्रकार की फ़ैंसीफुल उन्मुक्ततायें विचरने लगती हैं। संस्कृति के नियामक तत्वों में विसगतियां आने लगती हैं। इस तरह संस्कृति के निश्चयात्मक और निर्णयात्मक पहलू—कानून, न्याय, शिक्षा आदि काव्यीय-मिथकों का विषय बनने लगते हैं। अतः जरूरी है कि उच्चकोटि की समझी जाने वाली दार्शनिक-मुद्राओं के नशीले आचरण से मुक्त हुआ जाए, साथ ही काव्यीय-न्याय के अमूर्त और आत्मपरक सूक्ष्म प्रकार भेदों के मूर्खतापूर्ण मोह से बचा जाए।

यह भी देखना चाहिये कि किन परिस्थितियों में तथा किन नियमों के तहत संस्कृति अपने इतिहास के आचरण को छोड़कर माईथालाजी के मार्ग से दर्शन और कविता के कालातीत, ज्ञानातीत, निरपेक्षलोक में पहुँचाती है और इतिहास-काल मिथककाल में बदल जाता है? इसी वजह से आज तक सांस्कृतिक की विरासत का अधिकांश तो अवचेतन का विषय रहा है जिसका न तो विश्लेषण किया जा सका है और न ही किसी यथार्थ

वादी तर्क के द्वारा मूल्यांकन किया जा सका है। उसके लिये ज्ञानी, वैष्णवी और सन्त होना पड़ता है। इतिहास और संस्कृति के सरोकारों में मनुष्य तो होता है लेकिन ब्रह्म, ईश्वर, भगवान, ज्ञानी, भक्त और सन्त नहीं होते। यह पुरामिथकीय व्यवस्था है जिसने मनुष्य को अमूर्त किया है, उसे ऋषि, मुनि, देवता, राक्षस के प्रवर्गों में विभक्त कर दिया और नरलोक के भेदोपभेद कर डाले हैं। इसीलिये संस्कृति के सवाल पर इतिहास-दृष्टि को स्वस्थ ढंग से पकड़ना और उस पर निर्भर होना जरूरी है, उसे यथार्थवादी और वैज्ञानिक बनाना जरूरी है।

क्योंकि इतिहास का अमूर्तन निरुद्देश्य नहीं होता। जब कभी भी इतिहास को रहस्यात्मक शक्तियों से और चमत्कारों से जोड़ा जाने लगता है, आत्मपरक शैलियो मे उसकी व्याख्या की जाने लगती है तो मान लेना चाहिये कि समाज में कुछ विशिष्ट मनुष्यों के हित प्रमुख रूप से प्रभावशाली और शक्तिशाली हो गये रहते हैं। सांस्कृतिक शोषण से ही तो इतिहास प्रक्रिया अमूर्त होती है। सांस्कृतिक शोषण से इतिहास अनिश्चित और अमर्यादित होने लगता है। सांस्कृतिक शोषण से ही इतिहास नस्लवादी, जातिवादी, वंशीय और निरंकुश होने लगता है। सांस्कृतिक शोषण से हमेशा जनगण मे, उसकी श्रम-शक्तियों में आत्मपरायापन आता है। अतः सावधानीपूर्वक हमें अपने अतीत की, मध्ययुग और आधुनिक युग की जाँच करनी होगी। वैदिक, औपनिषदिक, रामायण, महाभारत, बौद्ध और गुप्तायुग से लेकर मध्ययुगीन सन्तों, कवियों, मठों के युग तक की तथा इससे भी आगे आधुनिक पुनर्संस्थान-युग की निर्मम पड़ताल करनी होगी। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अवस्थाओं को इतिहास के नियमों मे बाँधना होगा, भौतिक-परिवेश के आधार पर मानवीय क्रियाकलापों की प्रकृति को समझना होगा। ऐसा करते समय स्वप्निल ऊँचाइयों से गिरना होगा, पूर्वाग्रह छोड़ने होगे और धरती की पकड़ करनी होगी।

इतिहास-दृष्टि को वैज्ञानिक बनाकर ही अति प्राचीन जीवन के गतिशील नैरन्तर्य्य को तथा उसके भीतरी अन्तर्विरोधों को समझ सकेंगे और समन्वय के नाम से, आत्मएकता के नाम से भ्रमपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों से बच सकेंगे। यह तभी होगा जब इतिहास को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से देखा जाये। ऐतिहासिक यथार्थवाद की द्वन्द्वात्मक रीति-नीत से परहेज करने वाली विचारधाराएँ या तो मात्र रूपवादी हैं या प्रभाववादी-सावयवादी। ऐसा करने पर ही हम संस्कृति को मनुष्य के चिंतन और आचरण में केन्द्रीभूत कर सकेंगे तथा मनुष्य और समाज के ऐतिहासिक सम्बन्धो के द्वारा संस्कृति की गतिशीलता को भी माप सकेंगे। संस्कृति को जीवन्त रूप में ग्रहण करने का मतलब है उसकी सृजनधर्मिता को, उसके रूपात्मक निवेश को तथा उसके मूल्य-संदर्भित पैटर्नस को इतिहास के द्वन्द्वात्मक नियमों से बराबर परखा जाये। ऐसा करने पर ही संस्कृति की प्रासंगिकता और भविष्य की संभवनीयता बनी रह सकती है।

द्रष्टव्य है, कि मूल्य के अर्थ में आधुनिकता-बोध पश्चिम के उद्योग-विज्ञान के द्वारा जीवन के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ है। पिछली तीन शताब्दियों से पश्चिम के जीवन का आधुनिकीकरण हो रहा है। इस आधुनिकीकरण की विकास यात्रा में मध्ययुगीन ईसाई धर्म, रितासाबोध, सुधारबोध और प्रबुद्धबोध धीरे-धीरे रिक्त होते गये हैं। अब भक्ति, श्रद्धा और आस्था की भावुकता की जगह विवेक और विश्वास के ठोस आचरण ने ले ली है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने मनुष्यता को समृद्ध किया है। उसके नैतिक प्रतिमानों में, कानून-न्याय शिक्षा व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन आया है। उत्पादन-स्रोतों के अगणित विकास ने सामाजिक चिन्तन में क्रान्ति पैदा कर दी है। इस तरह, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से ही इतिहास को यथार्थवादी और विज्ञानवादी दृष्टि मिल सकी है। लेकिन आधुनिकीकरण और आधुनिकता-बोध एक नहीं है। प्रथम है प्रक्रिया या मार्ग, दूसरा है उपलब्ध 'मूल्य' और चिंतन की भौतिक स्थिति या वास्तविकता।

देखना है कि पूंजीवादी, साम्राज्यवादी, व्यक्तिवादी समाजों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने किस प्रकार के मानवीय सारतत्व का उत्पादन या सृजन किया है? तथा समाजवादी समाज में इस आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से किस तरह के मूल्यबोध का जन्म हुआ है? समझना और देखना यह भी है कि आधुनिकीकरण के प्रति मनुष्य और समाज का दृष्टिकोण क्या है, परिप्रेक्ष्य कैसा है? आधुनिक युग के ऋषि अल्बर्ट आईस्टीन ने कहा है, "अब मैं ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया हूँ जहाँ मैं संक्षेप में बता सकता हूँ कि मेरे अनुसार हमारे काल के संकट का मूल कारण क्या है—यह समाज के साथ मनुष्य के सम्बन्ध से ताल्लुक रखता है। मनुष्य समाज पर अपनी निर्भरता के विषय से पहले की तुलना में अधिक सचेत हो गया है। परन्तु वह इस निर्भरता को एक वरदान (Positive asset), आवयविक बन्धन, सुरक्षात्मक शक्ति नहीं मानता, बल्कि वह इसे अपने प्राकृतिक-अधिकारों या अपने आर्थिक अस्तित्व तक के लिये एक खतरा समझता है। इसके अतिरिक्त उसकी समाज में स्थिति ऐसी है कि उसका अहङ्कारी रुझान लगातार प्रबल होता जा रहा है जबकि उसके सामाजिक रुझान, जो स्वभावत: ही कमजोर होते हैं, क्रमशः क्षीण होते जा रहे हैं। सभी मनुष्य, समाज में उनकी कोई भी स्थिति क्यों न हो इसी गिरावट के शिकार हैं। अनजाने ही वे अपने अहङ्कार के शिकार हो गये हैं और वे अरक्षित, अकेले और जीवन के सीधे, सरल व स्वाभाविक आनन्द से वंचित अनुभव करते हैं। चूँकि जीवन छोटा व सङ्कटपूर्ण है, मनुष्य केवल समाज के प्रति समर्पित रहकर ही जीवन में सार्थकता प्राप्त कर सकता है। मेरे विचार में पूंजीवादी समाज की आर्थिक अराजकता ही, जैसा कि आज विद्यमान है, बुराइयों का वास्तविक स्रोत है।......समाजवाद का वास्तविक उद्देश्य मानव विकास के परभक्षी-काल पर विजय प्राप्त करना और उससे आगे प्रगति करना है।......समाजवाद सामाजिक-नैतिक लक्ष्य की ओर उन्मुख है"

(Why socialism ? Albert Einstein) Introduction to socialism, by L. Huberman M. Sweezy. (अनुवाद—विजेन्द्र शर्मा—उत्तरार्ध-१६)

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने मनुष्य और प्रकृति के सङ्घर्ष को तेज किया है। यह सङ्घर्ष सोद्देश्य है अतः सङ्घर्ष से प्रकृति का जो सामाजीकरण हुआ है, वह किस प्रकार का है ? इसी सवाल से नई-मनुष्यता के विकास की प्रकृति को समझा जा सकता है और इसी सवाल में सङ्घर्षरत वैज्ञानिक और तकनालाजिशियन की नैतिक, सामाजिक हैसियत निहित है, उसके उत्तरदायित्व निहित हैं। इसी सवाल से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार के इतिहास-तत्व का वरण किया जा रहा है ? अर्थात् मनुष्य और प्रकृति के अधुनातन सङ्घर्ष ने जिस दर्शन की बुनियाद डाली है उसकी समकालीन सामाजिकता और इतिहास सम्मत सरवस्तु का स्वरूप कैसा होगा ? रूपांतरण की शैली कैसी होगी ? इन्हीं मुद्दों पर आधुनिकता-बोध को विश्लेषित और मूल्यांकित किया जा सकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जिसे हम आधुनिकताबोध की नई संस्कृति कहते हैं, उसकी अनेक दार्शनिक दृष्टियाँ हैं जिनमें अनुभववाद, प्रत्यक्ष-प्रमाणवाद और प्रैग्मैटिज्म प्रमुख हैं। इन तीनों का स्वभाव आत्मपरक है तथा प्रकृतिवादी वस्तुसत्य की आन्तरिक एवं बहिर्मुखी दशाओं को प्रतिपादित करती हैं। आधुनिकतावाद और आधुनिकताबोध की वस्तु और शिल्प में प्रकृतिवादी चेतना व्याप्त है। इस तरह पूंजीवादी पश्चिमी दुनिया के आधुनिकताबोध का प्रत्येक आयाम, उसकी प्रत्येक भंगिमा ऐतिहासिक वस्तुवाद के वैज्ञानिक नियमों के विरुद्ध तथा यथार्थवादी आचरण के विरुद्ध है (यथार्थवाद से आशय उस विचारधारात्मक वस्तुबोध से है जिसका चरित्र द्वन्द्वात्मक होता है, जो सांस्कृतिक रचना की विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों में समूचे समाज की चेतना का निरन्तर प्रगतिशील आधार लिये रहता है) पूंजीवादी आधुनिकताबोध मे ऐतिहासिक नैरन्तर्य और उसकी द्वन्द्वपूर्ण प्रगतिशीलता का स्वीकार नहीं होता। यह आधुनिकताबोध तो मानव जीवन के बौद्धीकरण और सरलीकरण की प्रकृति है। इस तरह मध्ययुगीन बोध के मिथिकीकरण तथा आधुनिकता-बोध के बौद्धीकरण और सरलीकरण में कोई विशेष गुणात्मक भेद नहीं है। दोनों व्यक्ति केन्द्रित हैं। आधुनिकता-बोध में मिथकीय-दृष्टियों का बहिष्कार नहीं बल्कि उनका बौद्धीकरण हुआ है। उसे नये-नये रूपों में, आकृतियों में पेश किया गया है।

जीवन का मिथकीय विवेकीकरण भी आधुनिकता-बोध का एक आयाम है। एक ओर ठोस विज्ञान और तकनालाजी है दूसरी ओर उसकी चेतना को धूमिल करने वाले अनेक अमूर्त प्रारूप हैं। हमें समझाया जा रहा है कि पुराने देवताओं, भगवानो और पैगम्बरों को आधुनिक चेतना में रूपान्तरित किया जाना चाहिये। जो देवता अपने विशिष्ट समय और वातावरण की विशिष्ट भौतिक और आत्मिक आवश्यकताओं

की समग्रता के प्रतीक थे, युग-विशेष की मानसिकता की प्रतिभा थे, सांस्कृतिक अव-धारणा के प्रतिमान थे, वे गुणात्मक दृष्टि से पिछड़े गये है, चुक गये हैं। अतः हमसे कहा जा रहा है कि उनके चरित्र में आधुनिक युग तक कि चेतना प्रवाहित करना चाहिये। नये युग की समृद्धि से उन्हें पुनः दीप्तवान करना चाहिये। इसीलिये रज-नीश भगवान बन गये हैं, साईं बाबा, महेशयोगी तथा हजारो कल्टस् के द्वारा मध्य युगीन-मन और रिनासायुगीन बुद्धि को पुनः उर्जस्वीकृत किया जा रहा है। कौन नही जानता कि इस भद्र और भोले प्रयास में आधुनिकताबोध सम्पन्न पूंजीवादी शोषण की राजनीति सक्रिय है? पूँजीवादी शोषण की घिनौनी अमानवीय राजनीति ने संस्कृति के क्षेत्र में हस्तक्षेप किया है, वह ऊपर से भोले-भाले मुखौटों में भेष बदल-बदल कर संस्कृति को प्रभावित कर रही है। श्रम और संस्कृति के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को तोड़ना ही उसका उद्देश्य है। इस तरह आधुनिकताबोध सम्पन्न पूंजीवादी शोषण की राजनीति को प्रचारित और प्रसारित किया जा रहा है। अराजनीतिक होने, अवैज्ञानिक होने, असम्बद्ध और अप्रतिबद्ध होने की व्यक्तिवादी परिस्थितियाँ इस आधु-निकताबोध में व्याप्त हैं—इसी के तहत मिथकीय-भाववाद के नवीनीकरण का प्रयास हो रहा है।

माईथालाजिकल सांस्कृतिक सांचे के नवीनीकरण का जितना शोरशराबा है उतनी सफलता उसे नहीं मिल रही है। मनुष्य का जीवन अब विज्ञान, तकनालाजी के द्वारा संचालित होने को बाध्य है। अब डार्विन और फ्रायड की सम्मलित दृष्टियों से भी जीवन के द्वन्द्वात्मक नियमों को झुठलाया नहीं जा सकता। धीरे-धीरे प्रकृत इच्छाओं, स्वतः स्फूर्त उत्तेजनाओं और आवेगों, फैंसीफुल आकर्षणों और यूतोपियन उद्देश्यों का महत्व क्षीण होता जा रहा है। अब जीवन को आद्यरूपों की दुनिया मे नही ले जाया जा सकता। उसका आदिम समुदायीकरण नहीं किया जा सकता। पूंजीवादी आधुनिकताबोध में नास्तिवादी शून्य-बोध तत्वरूप में स्थित है जो वहाँ की त्रासद-दृष्टि के कायिक हो जाने, प्राणिमनोवैज्ञानिक हो जाने का परिणाम है। ऐसी हालत में मनुष्य अपने समाज से कटा हुआ "जीव" या अलग-थलग "उन्मुक्त-अहं" मात्र बनकर रह गया है। सर्वत्र ही स्नायविक उत्तेजनाओं का असन्तुलन दिखाई देता है। पूँजीवादी संसार में आत्मबिलगाव के उदात्तीकरण और उर्ध्वमुखीकरण के कृत्रिम नमूने दिखाई देते हैं। वहाँ के अस्तित्ववाद में यह विसंगति तत्वरूप में विद्यमान है। जो कर्म का निषेध करती है तथा आत्मबिलगाव को प्रक्षेपित अवस्था 'ध्यान' और 'समाधि' को बढ़ावा देती है। कर्म से अवरुद्ध समाज ही अन्तर्मुखी समाधि की ओर मुड़ता है और उसकी सामूहिक रचनात्मकता की सम्भावनाओं को छोटा करता है। यह समाधि है जो शाश्वत, स्वायत्त, निरपेक्ष भाव को अनन्त सत्ता और चेतना को

उछालती है। चूँकि अब विज्ञान और समाज के रिश्तों में द्वन्द्वात्मक कर्म को प्राथमिकता मिलने लगी है इसलिये उन्हें यांत्रिक बनाकर समाधि की ओर अग्रसर नहीं किया जा सकता। इस तरह पूँजीवादी आधुनिकताबोध में विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि के पतन की चेष्टा दिखाई देती है।

नतीजे के तौर पर यह सिद्ध होता है कि आधुनिकताबोध बनाम संस्कृति-बोध की धुरी है—इतिहास या इतिहास-बोध। इतिहास के सम्पर्क में ही आधुनिकताबोध और संस्कृति के सम्बन्धों और विपरीतों को समझा जा सकता है। पश्चिमी जगत में आधुनिकताबोध पर जो बहसें हुई हैं वे अब पुरानी पड़ गयी हैं। उसे रिनासा, सुधार और प्रबुद्ध युग से पृथक माना गया है। लेकिन उसकी नवीनता को परम्परावादी दर्शन, नीतिशास्त्र और धार्मिक आचरण में स्पष्ट किया गया है। उसे उद्योग, विज्ञान और तकनालाजी के सन्दर्भों में परिभाषित किया गया है। मूल गड़बड़ी हुई है कि डार्विन, फ्रायड और जूलियन-हक्सले की आँख से आधुनिकताबोध को देखा जाता रहा है। फलस्वरूप आधुनिकतावादी यह स्वीकार नहीं कर पाते कि विज्ञान और तकनालाजी से समूचे समाज की सृजनशीलता का सम्बन्ध होता है। मानवीय श्रम का अभिनव रूपों में सामाजीकरण हो रहा है जो विज्ञान और तकनालाजी की देन है किसी व्यक्ति, 'अतिरिक्त शक्ति' 'या' 'विशिष्ट अहं' का परिणाम नहीं है। अतः पूंजीवादी आधुनिकताबोध में विज्ञान और तकनालाजी का सामाजिक परिप्रेक्ष्य और स्वीकारात्मक प्रभाव दिखाई नहीं देता। इसीलिये आधुनिकताबोध के समाजशास्त्र में प्रत्यक्षतः संकट, विघटन और निषेध की चेतना व्याप्त है। उसमें विसगतियाँ है, वह ह्रासशील है। नये युग की रचनाशीलता से विमुख है।

आज मानवीय सृजन का प्रमुख माध्यम विज्ञान है। प्राकृतिक-विज्ञानों से लेकर सामाजिक-विज्ञानों तक मनुष्य की सृजनशील सम्भावनाओं का विस्तार हुआ है। मानविकी के प्रत्येक अनुशासन पर विज्ञान का प्रभाव है। साहित्य और कलायें भी वैज्ञानिक चेतना को आत्मसात कर रही है। नई वस्तु और नये पात्रों की रचना मे तथा रचना-शिल्प में विज्ञान विवेक का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। आज के जीवन का बहुमुखी सृजन विज्ञान, तकनालाजी के संस्कार-ग्रहण में ही सम्भव है। अब पुनरुत्थानवादी तथा सुधारवादी विचारों की रिक्तता सिद्ध हो चुकी है। जो लोग मानवतावाद के बहाने मध्ययुगीन धर्म और नीतिशास्त्र को विज्ञान और तकनालाजी तक घसीट लाना चाहते हैं, जो लोग पुनरुत्थानवादी चीथड़ों को विज्ञान-चेतना मे आरोपित करना चाहते हैं, वे जीवन में निहित अन्तर्विरोधों के शत्रुतापूर्ण स्वभाव को भ्रमित करते हैं।

इतिहास की मूल चेतना राजनीति में व्यक्त होती है और राजनीति से व्यक्तित्व के वस्तुपरक होने की दिशायें खुलती हैं इस तरह और मन्दिरों

की दृष्टि तथा विज्ञान की दृष्टि में कोई तालमेल नहीं है। धार्मिक पुनरुत्थान को यदि वैज्ञानिक चिंतन से जोड़ा जाए तो फ़ासीवादी निरंकुशता पैदा होने लगेगी, सम्प्रदायविहीन प्रजातान्त्रिक चेतना कुंठित होने लगेगी। विज्ञान में मनुष्य को नये सिरे से रचने और गढ़ने की अपार क्षमता है, शर्त यह है कि वह समूचे समाज की प्रगति का आधार बन सके।

जैसा कि ऊपर कहा है कि आधुनिकताबोध एक ओर तो धार्मिक पुनरुत्थान-वाद को अहमियत नहीं देता और दूसरी ओर विज्ञान की सम्प्रदायविहीन वस्तुनिष्ठ प्रजातांत्रिक चेतना को भी अस्वीकार करता है। कुल मिलाकर, इसमें प्रकृतिवाद और व्यक्तिवाद की पैठ गहरी है। चूंकि इसमें इतिहास, समाज और राजनीति को प्राथ-मिकता नहीं है इसलिये उसकी कोई निश्चित विचारधारा और परिप्रेक्ष्य नहीं है। आज तो परिप्रेक्ष्ययुक्त विचारधारात्मक संस्कृति के निरन्तर विकास के लिये राजनीतिदृष्टि का अधिग्रहण जरूरी है। राजनीति-दृष्टि से ही संस्कृति की संभावनायें सुरक्षित है। राजनीति में ही मनुष्य का भविष्य सुरक्षित है। राजनीतिक अनुशासन से मुक्त रहने की इच्छा से स्वेच्छाचारिता पैदा होती है।

वर्ग-विभक्त समाज में, शोषण के समाज में राजनीति का चरित्र व्यक्तिवादी होता है वह निरंकुशताप्रेरक होती है। सामाजिक और मानवीय हितों को राजनीति के लिये वैज्ञानिक समाजवाद ही केवल विकल्प के रूप में रह गया है। अतः राजनीतिक विचारधारा और परिप्रेक्ष्य को मानवीय बनाने के लिये समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन जरूरी है। मार्क्सवादी समाजवादी विश्व-दृष्टि में ही मनुष्य-मात्र के निरंतर विकास की परिस्थितियाँ सुरक्षित हैं। मानवीय संस्कृति के सृजनशील तत्वों की विजय के लिय, उसके नूतन विकास के लिये समाजवादी समाज की रचना करनी होगी।

आधुनिकता-बोध इस समाजवादी विचारधारा का विरोधी है। यह बुर्जुआबोध है, सर्वहारा की संस्कृति का विरोधी है वह संघर्ष और क्रान्ति की चेष्टा को भोथरा करता है जीवन की आन्तरिक एकता को तोड़ना है। पूंजीवादी देशों में विज्ञान, तकना-लाजी के प्रभाव से जो महानगरीय-बोध पैदा हुआ है, लोकजीवन का जिस तेजी से शहरीकरण हुआ है, क्या उसमें समूचे समाज की खुशहाली को प्रकट करने वाली सृजन-कल्पना शेष रह गयी है? इस महानगर-बोध में स्थिरता आ गयी है वह यांत्रिक सा हो गया है। इसीलिये तो पूंजीवादी देशों की आधुनिकता ने मनुष्य के जीवन को अपराध मे उतार दिया है। उन्माद, उत्तेजना और अश्लीलता के साथ भ्रष्टाचार और अनाचार की विसंगतियाँ पैदा हो गयी हैं। पंजसवादी आधुनिकता की सारी चकाचौंध जीवन-चेतना-विहीन रूपवाद या शैलीवाद में सिमिटती जा रही है।

लेकिन इस आधुनिकता से इतिहास की गति को रोका नहीं जा सकता। अ समय आ गया है पूंजीवादी संसार अपने भीतर के अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करें ता

पूर्ण-विपरीतों का समाधान खोजे, यह कार्य तब तक संभव नहीं होगा जब तक मार्क्स के 'वर्ग-संघर्ष'', ''मेहनतकश की सत्ता'' और वैज्ञानिक-समाजवाद की क्रान्तिवादी अवधारणा को अपनाया जाए। वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता को टाला नहीं जा सकता। विज्ञान, तकनालाजी और औद्योगिक विकास ने जाति, वर्णवादी और राष्ट्रवादीसीमाओं को छोटा कर दिया है। मनुष्य के सम्मुख भौतिक सुख-सुविधाओं का अपार भंडार है लेकिन वह सबको मयस्सर नहीं हो पा रहा है, अतः व्यवस्था-परिवर्तन अनिवार्य है। मेहनतकश की सत्ता का अर्थ भी यही है कि भौतिक सुख सुविधाओं की सृष्टि करने वाले श्रमिक या सृजनकर्त्ता ही अपने भाग्य-निर्माता बने, उत्पादन और उपभोग के सम्बन्धो में कोई विषमता न हो अतः सर्वहारा की सत्ता का अर्थ सृजनकर्ता की सत्ता से होता है। सर्वहारा की संस्कृति का अर्थ विज्ञान, तकनालाजी के निर्माता और प्रयोक्ता की संस्कृति से है। जब तक रचनाकार या उत्पादक की सत्ता नहीं होगी तब तक शोषक का अतिरिक्त वैशिष्ट्य रहेगा और मानवद्रोह बना रहेगा। व्यक्ति के अतिरिक्त रूप से विशिष्ट हो जाने के कारण वर्ग-विभक्त समाज में उन्मुक्त जीवन जीने की इच्छा ने आदमी को पशुवत् बना दिया है। हिप्पी, बीटल से लेकर रास-रस लीलावाद की सैलानी शैलियों में पूँजीवाद अपने घृणित रूप में शेष रह गया है। वह संस्कृतिविहीन हो गया है।

क्रान्तिकारी विचारधाराबद्ध वैज्ञानिक चेतना के समाजीकरण की दृष्टि ही समाजवादी देशों में संस्कृति की नियामक है। समाजवादी चेतना का विकास अब विज्ञान तकनालाजी के प्रभाव पर आधृत है। इसके बगैर समाजवाद की कल्पना नहीं की जा सकती। इन देशों में विज्ञान और वैज्ञानिक किसी वर्ग या किसी मालिक का दास नहीं है। यहाँ व्यक्तिवाद का उन्मूलन हो चुका है, व्यक्ति के प्रभुत्व और ऐश्वर्य को समाप्त कर दिया गया है। वंश की विशिष्ट सत्ता को नगण्य बना दिया गया है। यहाँ के जीवन में रूपवादी शास्त्रीयता और स्वच्छन्दतावादी वैयक्तिक साहसिकता महत्वहीन हो चुकी है, नायक-पूजा की मनोवृत्ति नहीं रही है। श्रम या सृजन ही महत्व की कसौटी बन गया है—यही है नई संस्कृति की वस्तुनिष्ठता और जो निरंतर योग्यता और निपुणता को बढ़ाकर सृजन-कर्म में उत्साह बनाये रखती है—यही है उसकी प्रगतिशीलता जिसमें सामाजिक न्याय और स्वतंत्रता का औचित्य रहता है।

समाजवादी देशों में विज्ञान, तकनालाजी के प्रभाव से सामाजिक सम्बन्धों की रचना अकुंठ है वहाँ प्रतिस्पर्धा के व्यक्तिवादी कारण नहीं रह गये हैं। अवसरवाद, कैरियरिज्म और अभिजात की परिस्थितियाँ नहीं है। इस नूतन जीवनदर्शन को आधुनिकताबोध की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके निर्माण में वहाँ की ऐतिहासिक भौतिकवादी परिस्थितियों के क्रान्तिकारी अर्थात् सहेतुक, सचेष्ट और सोद्देश्य परिवर्तन और विकास में मनुष्य बराबर सक्रिय रहा है देशों में आधुनिकता एक सोद्देश्य

सचेतन प्रक्रिया के रूप में दिखाई देती है। बोध के अर्थ में अथवा मूल्य के अर्थ में समाजवादी यथार्थवाद की संस्कृति का वरण कर लेती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद की दृष्टि से आधुनिक काल सापेक्ष शब्द है और आधुनिकता कालसापेक्ष गुण-शीलता की परिचायक है तथा 'आधुनिकताबोध'' काल सापेक्ष गुणशीलता की मूल्य-चेतना का पर्याय है। पूंजीवादी दुनिया में आधुनिकता-बोध की जटिलतायें हैं, वह गुह्य है, उसके स्रोत अवचेतन में है जो अज्ञात और अमूर्त होते हैं। समाजवादी दुनिया में आधुनिकता-बोध, समाजवादी-यथार्थवाद की स्पष्ट ज्ञात और ठोस संस्कृति में निरन्तर गतिशील है। वह नवोदित शक्तियों से भरापूरा है। इस तरह आधुनिकताबोध एक और प्रतिक्रियावादी चिंता का तथा दूसरी ओर समाजवादी-यथार्थवाद और प्रगतिशील संभावनाओं का विषय बन गया है।

पूंजीवादी पश्चिमी जगत की आधुनिक-चेतना के द्वन्द्व समाप्त हो चुके हैं, वह अपनी सांस्कृतिक पहल खो चुकी है।

समाजवादी यथार्थवाद में मानव के सामूहिक कर्म द्वारा जो गुणात्मक परिवर्तन होता है, यदि वह संकीर्ण और एकांगी नहीं हुआ है तो संस्कृति का सृजन सततरूप से होता रहेगा। यह चेतनागत परिवर्तन है जो सामाजिक सम्बन्धों की संस्कृति को नई-नई शैलियों में रूपायित करता रहता है। अतः भविष्य के मनुष्य की संस्कृति समाजवादी यथार्थवाद से संबद्ध है। क्योंकि उसमें उद्योग, विज्ञान, तकनालाजी की क्रान्तिकारी सामाजिक-चेतना ने ठोस विश्व-दृष्टि की रचना की है। इस तरह नये सस्कृति-बोध की संभावनायें वर्गविहीन समाज में है।

उन्नीसवीं-शती तक पूंजीवादी-साम्राज्यवादी संसार में 'आधुनिकता' और 'आधुनिकता-बोध' की परिस्थितियाँ विकासमान थी। उसमें आकर्षण और शक्ति थी। नये-नये संस्थानों का, नये-नये विचार-पैटर्नस का जन्म हो रहा था। उस समय 'आधुनिकता और आधुनिकता-बोध' में नवीन प्रतिमानों के लिये जगह थी। विज्ञान के बहुमुखी विकास का सामाजिक चिंतन पर प्रत्यक्ष और निर्णायक प्रभाव पड़ा। क्रान्तियों का सिलसिला शुरू हुआ। योरोप के हर देश में जनगण की क्रान्तिकारी चेष्टायें मुखर होने लगीं। राजनीत्यार्थिकी के पहलू प्रमुख हो गये। राजनीतिक आचरण मे नई स्फूर्ति आ गयी। विरोध, आन्दोलन और क्रान्ति का वातावरण पैदा हुआ। यह समय था जब पश्चिम का पुनरुत्थान और वहाँ के धार्मिक नैतिक संदर्भ आत्मघाती सकोच का विषय बन गये थे। उस समय आधुनिकता नये परिवेश की रचना-शिल्प थी और आधुनिक-बोध विकसित मूल्यचेतना। रिनासायुगीन और प्रबुद्ध-युगीन विचार-धाराओं में पाये जाने वाले महानता, उच्चता, औदात्य और भव्यता के अभिजन-गुण धीरे-धीरे लुप्त होने लगे थे, आम आदमी के जीवन में उत्साह बढ़ रहा था, वह यथार्थ-वादी हो रहा था। उन्नीसवीं शती की आधुनिकता बुर्जुआ-संस्कृति के विकासमान अर्थों को प्रकट करने वाली थी. वह लोकोन्मुखी. लचीली और प्रसरणशील थी।

ऐसा कौन प्रगतिशील विचारक था, साहित्यकार था जिसने आधुनिकीकरण और आधुनिकता-बोध की उपलब्धियों को ग्रहण न किया हो। इसी आधुनिकता के तहत विकसित चेतना के सभी पहलू यथार्थवादी और सामाजिक थे। इस पूंजीवादी आधुनिकता को द्वन्द्वात्मक तर्क से समझे बगैर समाजवादी संघर्ष की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। क्योंकि सामंतवाद और रिनासा से पूंजीवादी आधुनिकता तक की यात्रा का इतिहास परिवर्तनों, संघर्षों, क्रान्तियों और युद्धों से भरा है। और चूंकि इस वर्गविशिष्ट परिवर्तनकारी सामाजिक संघर्ष की आर्थिक राजनीतिक भूमिका जनवादी नहीं थी—इसलिये पश्चिम के आधुनिक विचारदर्शन में युगानुकूल आवश्यकताओं के अनुरूप मार्क्सवाद का वैज्ञानिक हल प्रस्तुत हुआ। मार्क्स-ऐंगेल्स के द्वन्द्वात्मक भौतिक-वादी चिन्तन ने इतिहास के मूल सिद्धान्तों, सामाजिक विकास के मूल-सिद्धान्तों को बदलने का दावा किया। यह कार्य जनता के, श्रमिक वर्ग के क्रान्तिकारी सहयोग से हो सकता था। हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति से मार्क्स ने प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्धों, इतिहास और मनुष्य के सम्बन्धों तथा उत्पादन-प्रक्रिया से लेकर समूची सांस्कृतिक प्रक्रिया तक का नया भौतिक ढांचा बनाया, जो विज्ञान सम्मत था। यह द्वन्द्वात्मक पद्धति है कि जिसमें गति के स्रोत, प्रकृति और निरन्तर प्रगति के नियमों का वैज्ञानिक ढंग से निर्धारण किया गया और उसे ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में सफलतापूर्वक लागू किया गया। यह द्वन्द्वात्मक पद्धति है जिसने अन्तर्सामञ्जस्य प्रधान जीवन-दर्शन के ठोस और यथार्थ पहलुओं का उद्घाटन किया।

यह समय था जब मनुष्य अपने द्वारा किये गये सामाजिक उत्पादन के द्वारा निश्चित और अनिवार्य किस्म के नये सांस्कृतिक सम्बन्धों से परिचित हो रहा था, भौतिक समृद्धि से नये संस्कारों का वरण कर रहा था। इस नई सामाजिक-चेतना के अनुरूप नयी कानून व्यवस्था, नई न्याय-व्यवस्था और नई-राजनीतिक विचारधारायें क्रियाशील हो रही थीं। नये किस्म के भौतिक जीवन से जो नई चेतना व्यवस्था बनी, उससे इतिहास में मनुष्य के नये रूपों में रूपान्तरण की प्रक्रिया तेज हुई। अब निश्चित और निर्णायक संघर्षों और क्रान्तियों के युग का आरम्भ हुआ।

चूंकि आधुनिकता और उसके बोध का विकास बुर्जुआ शैली में हुआ था, जो शोषण प्रधान थी। यह शोषण राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर जाकर उपनिवेशों तक फैल चुका था। ऐशिया और अफ्रीका और लैटिन अमरीका के देशों का दोहन हुआ। इसी साम्राज्यवादी शोषण की नींव पर योरोप की आधुनिकता विकसित हुई। फलस्वरूप वहाँ की बुर्जुआजी के तौर-तरीके क्रूर, हिंसक और फासीवादी होने लगे। उसमें परजीविता समा गयी और धीरे-धीरे उद्योग, विज्ञान, तकनालाजी के बल से निर्मित परजीवी आधुनिक चेतना के द्वन्द्व शिथिल होने लगे। उसमें स्थिरता आने लगी, वह विसंगति-बोध में बदसमें सभी शोषण दमन, और उत्पीड़न में मानव-

द्रोह तो रहता ही है—और इसीलिये चारो ओर निश्चेष्टता, तटस्थता और उदासीनता दिखाई देने लगी। एकान्तकामी, पलायनवादी और स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति बढ़ने लगी। यह सब कुछ मानवीय-शोषण से उत्पन्न समाजव्यापी आत्मपरायेपन की देन था। यह समय था जब शोषक वर्गों ने दुनिया को बाँटने की साजिश की और शोषित वर्ग अपने जीवन अस्तित्व के प्रति सशंकित था। संसारव्यापी मुनाफ़े और शोषण से आधुनिकता के सभी संस्कार भ्रष्ट और हीन हो गये और उसकी सांस्कृतिक तथा नैतिक पहल समाप्त हो गयी।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रीय-पूँजीवाद के कुंठित हो जाने से दो विश्व-युद्ध हुये। फ़ासीवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ, पुराने किस्मों के प्रजातन्त्र खोखले हो गये। योरोप के जीवन का रूपान्तरण सैनिकतन्त्र में होने लगा। सैनिक संस्थान ही संस्कृति-संस्थान बनने लगे। सैनिक प्रतिष्ठानों में राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थनीति तय होने लगी, वे शिक्षण के केन्द्र हो गये। इन सैनिक संस्थानों, प्रतिष्ठानों मे संकुचित राष्ट्रावाद का उन्माद पैदा किया जाने लगा। विज्ञान, तकनालाजी की प्रभावशीलता एकांगी हो ही गयी। इसी आधुनिकता-बोध के तहत अस्तित्ववाद का विकास हुआ। बाह्य जीवन में ठहराव आ जाने से अन्तर-अस्तित्व हिल उठा। और फिर मूलबात तो यह है कि पश्चिम के ऐतिहासिक विकास में प्रकृतवादी मान्यताओं के बराबर बने रहने के कारण ही अस्तित्व की व्यक्तिमुखी चेतना मुखर रही है। वहाँ के सामाजिक सम्बन्धों में स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियाँ सक्रिय रही हैं। जब कभी भी भौतिक ऐतिहासिक परिवेश से निर्मित चेतना और व्यक्तिवादी में अन्तर्विरोध बढ़ता है तब तब वहाँ प्रभुत्वशाली अहं की विजय दिखाई देती है। योरोप में एक और बोनापार्टिज्म से लेकर हीगल के अखंड आत्मवाद तक की उच्चाकांक्षा है तो दूसरी ओर स्वच्छन्दता-वादियों से लेकर नीत्शे तक की आत्मसंकल्पित-त्रासद-अन्तर्मुखता है।

कौन नहीं जानता कि गेटे का फाउस्ट ही वहाँ के क्रमबद्ध ऐतिहासिक विकास में हीगल के अध्यात्मवाद और नीत्शे की संकल्पात्मक-इच्छा को लगातार धारण करता हुआ जर्मन नाज़ीवाद में उतरता चला गया है। इन्हीं तीनों के विकासात्मक सामंजस्य का मानवीकृत रूप हिटलर है। हिटलर पश्चिमी जीवन-दर्शन की वह प्रवृत्ति है जो इतिहास और व्यक्ति के अन्तर्विरोधों में जीवित रही है। वहाँ के उद्योग, विज्ञान, तकनालाजी के पूंजीवादी चरित्र में यह हिटलर गहराई से समाया हुआ है। यह इतिहास की प्राणि-वैज्ञानिक मान्यता की देन है और द्वन्द्ववादी यथार्थ के अस्वीकार अनिवार्य परिणाम है। इसी के समाजशास्त्र को ध्यान में रखकर स्पेंगलर, टायन्बी, सोरोकिन ने पश्चिम के ह्रास की भविष्यवाणी की है। उसे मृत्यु द्वार पर खड़ा बताया है। अब संस्कृति के रिनासा-माडेल और यांत्रिक किस्म के इन्द्रियानुभविक प्रारूपों का भविष्य समाप्त हो रहा है।

पश्चिम के जीवन का सारतत्व क्षीण हो गया है। वहाँ सामाजिक जीवन का आटोमेटाइज़ेशन हो रहा है, टेक्नालाइजेशन हो रहा है। इसी मशीनीकरण ने मनुष्य को 'लघु', 'हीन', 'निरर्थक', 'अनुपयोगी' बना दिया है। इसीलिए विसंगति और अस्वीकृति का संसार फैलता जा रहा है। वहाँ मनुष्य की रचनात्मक शक्तियाँ आदरणीय नहीं रही है। उन्हे पूंजीवादी प्रतिष्ठानों ने खरीद लिया है। सैनिक प्रतिष्ठानों ने वंधक बना लिया है। विज्ञान जो कि ऊर्जा का प्रतीक है, पूंजीवादी-सैन्यवादी राजनीति शक्ति के आधीन हो गया है। इसीलिए राजनीतिक विकृतियाँ ऊर्जा-स्रोतों के प्रत्येक निकाय में व्याप्त हो गई हैं। उन्माद, अपराध, हिंसा और युद्ध व्यक्ति और राष्ट्र के चरित्र में समा गया है। इस तरह वहाँ के रचनात्मक अंग बीमार हो गये हैं, गतिरोध पैदा हो गया है। सभी कुछ तो मानव-द्रोही और संस्कृत-विरोधी सा हो गया है।

उद्योग और विज्ञान जैसे-जैसे प्रतिक्रियावादी चरित्र धारण करने लगते हैं, वैसे-वैसे सामाजिक मूल्यों का पतन होने लगता है। मूल्य-चेतना आत्म परायेपन की कक्षा में आ जाती है, धीरे-धीरे चुकने लगती है। पश्चिम के जीवित रहने की एक ही शर्त है—वह रचनात्मक विकल्प को अर्थात् समाजवादी-यथार्थवाद को शीघ्रातिशीघ्र अपना ले। उसे अपने ही जीवन को सुरक्षित रखने के लिए शोषण की अमानवीय हरकतों से बाज आना पड़ेगा, यदि वह धैर्यपूर्वक हुआ तब तो पश्चिम का भविष्य है अन्यथा स्पेंगलर की चेतावनी यथार्थ हो सकती है। आधुनिकता-बोध के रूप में जो सांस्कृतिक-निषेध की घातक प्रवृत्ति पनपी है, उससे मुक्त होने के लिए मार्क्सवाद तक पहुँचना जरूरी है।

समाजवादी संसार में विज्ञान, उद्योग, तकनालाजी के विकास का मानव जीवन से द्वन्द्वात्मक या क्रान्तिकारी सम्बन्ध है। वहाँ जीवन का मशीनीकरण नहीं हुआ है, वह भौतिक सुख-सम्पदा को बढ़ाने में सहायक है। यहाँ मनुष्य लघु या बौना नहीं हुआ है। उसका इस समूचे विकास पर नियन्त्रण है। समाज का प्रत्येक मनुष्य उसका अनिवार्य अंग है। जिस तरह विज्ञान, तकनालाजी की कोई जाति नहीं होती, उसका कोई गोत्र या वर्ग नहीं होता, उसी तरह विज्ञानसम्मत सामाजिक-सरचना में भी कोई वर्ग-भेद, जाति-भेद और सम्प्रदाय-भेद नहीं रह गया है।

विज्ञान की ऊर्जा और मनुष्य की चेतना का स्वस्थ सम्बन्ध नई-मनुष्यता के रूप में फलीभूत हो रहा है। शोषण मुक्त स्वतन्त्र मनुष्य की व्यवस्था में सभी अनुशासित हैं। यह अनुशासन-श्रम के नियमों का है, जिसमें रचनात्मक सम्भावनाएँ सुरक्षित हैं। इस दुनिया में मनुष्य अपनी रचनात्मक उपलब्धियों का निर्माता, नियामक और निर्णायक भी है। वह अपने भाग्य का विधाता है, उसे किसी अमूर्त और रहस्यात्मक शक्ति की खोज नहीं करनी है। यहाँ सब कुछ ठोस और ज्ञात है। मनुष्य में अनंत कोटि की शक्तियाँ समाहित हो गई हैं। जो नई-नैतिकता, नये-अध्यात्म और नई-संस्कृति को आगे बढ़ा रही है।

दुनिया के प्रत्येक देश में अब समाजार्थिक और राजनीत्यार्थिकी में ही जीवन को देखा, परखा और समझा जाने लगा है। अब क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और हितों में निकटता तथा एकरूपता आ रही है। शोषण से मुक्त होने का सघर्ष हर जगह चल रहा है। एशिया, अफ्रीका, लैटिन-अमरीका के देश अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं। साम्राज्यवादी कूटनीति उनके सांस्कृतिक पिछड़ेपन का लाभ उठा रही है, उनकी नियति को बंधित किये हैं। भारत एक शक्तिशाली विकासशील देश है जिसका अपना पुराना इतिहास है तथा जिसकी विशिष्ट जातीय संस्कृति है। इस भूभाग की जीवन-व्यवस्था में अनेक प्रकार के दर्शनों का, पुरा-मिथकीय धर्मशास्त्रों, स्मृतियो, धार्मिक सम्प्रदायों और मतवादों से लेकर भिन्न प्रकार के पुनरुत्थानवादों और नव-जागरणों का स्थान रहा है। पश्चिम के अतीत की तरह यहाँ भी साम्राज्यवादी राज-शाही तथा मध्ययुग में सामंतवाद लोकप्रिय रहा है। यहाँ भी प्रकृतिवादी, अनुभववादी आत्मपरक दृष्टियों और शैलियों का प्राधान्य रहा है। मायावाद और वेदान्त की अनेक अमूर्त छवियाँ दिखाई देती हैं, जो कालान्तर में समूची संस्कृति और इतिहास को मिथकीय आवरण में ढँक लेती हैं।

साफ दिखाई देता है कि मध्ययुगीन सामंतवादी उत्पादन-स्रोतों और सम्बन्धो की शिथिल, संकुचित किन्तु तनावपूर्ण परिस्थितियों के कारण समूची सांस्कृतिक आकृति अमूर्त होने लगी है, प्याज़ के छिलकों की तरह उसमें भेद-दर-भेद पैदा होने लगे है। जो लोग भक्तिवाद और वैष्णव-संस्कृति के नाम पर सामाजिक जीवन के दमित यथार्थ का उदात्तीकरण या आध्यात्मीकरण करते हैं वे समूचे सामाजिक सम्बन्धों की प्रत्येक तह में व्याप्त आत्मपरायेपन के कारण को अनदेखा कर देते हैं। मध्ययुगीन भक्तिवाद वैष्णववाद में एक तरह की रसात्मक निश्चेष्टता मिलती है, जिसने जीवन की सक्रियता को न केवल भंग किया बल्कि उसको स्थिर भी किया है।

भारत का मध्ययुग दीर्घकाल तक आत्मपरायेपन की स्थिति में डूबे रहने का परिणाम है। इतिहास और संस्कृति में मानव की जगह इतर गुण-धर्म वाले प्राणी लेने लगते हैं। देवता और राक्षस के मिथकीय प्रवर्ग बन चुके रहते हैं। जिनका वश वृक्ष जटिल है। जब कभी कोई यथार्थ अन्तर्विरोध पैदा हुआ या संघर्ष की स्थिति सामने आयी (मुसलमानी आक्रमण और अंग्रेजों के आगमन के समय) भारतीयों ने तुरन्त ही समन्वयवादी रिनासा के सहारे समझौता कर लिया। जरूरत पड़ने पर सशोधन कर लिए। इस तरह प्रतिभाविहीन मध्यम-मार्गी जीवन-पद्धति से भारतीय इतिहास के गौरव का बखान किया जाता रहा है। जीवन का उद्देश्य सदैव उस आध्यात्म से बँधा रहा है जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारों को हमेशा तुच्छ, गौण और क्षणिक माना गया है। इसीलिए तटस्थाबोधक दार्शनिक मुद्रा तथा शृङ्गार-कल्पना ही शाश्वत रही है।

लेकिन भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के स्थापित हो जाने के बाद क्रान्तिकारी परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। अंग्रेजों ने मध्ययुगीन सामंतवाद को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। नतीजा यह हुआ कि शिथिल उत्पादन सम्बन्धों की तटस्थाबोधक दार्शनिक मुद्रायें टूटने लगी और शृंगार का नशा उतरने लगा। काव्यात्मक मिथकों का संसार उखड़ने लगा। रास-रस-लीला की शाश्वत भावना मिटने लगी। यह तो यथार्थ का प्रथम साक्षात्कार या सामना था, जिसने सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के लिए विवश कर दिया। यहीं से भारतीयों ने अपने लिए सामाजिक समानता और राजनीतिक-स्वतंत्रता के यथार्थ की आवश्यकता महसूस की।

भारतीय उपनिवेश के उत्पादन स्रोतों का दोहन करने के लिए अंग्रेजों ने विज्ञान और तकनालाजी का सहारा लिया। भारतीय जनता के सस्ते श्रम और अपार कच्चे माल से अंग्रेज और उनका देश ब्रिटेन कुछ ही दिनों में सम्पन्न हो गया। भारत में अंग्रेज व्यापार करने आये थे और यहाँ की जीर्ण सामंती-व्यवस्था को कुचलकर शक्तिशाली शासक बन गये। भारत की आत्मपरायेपन से मूर्छित आध्यात्मिक शैली इनके सामने टिक न सकी। ईसाई-मिशनरियों का प्रभाव बढ़ने लगा, उसमें ताजगी थी। जीवन के यथार्थ में उनकी आस्था थी, अन्धविश्वासों और अपार्थिव-तत्वों से वे मुक्त थीं। इन ईसाई मिशनरियों ने उस वर्ग को मानवीय ममत्व दिया और आर्थिक सहायता की जिसे हिन्दूधर्म ने घृणा और उपेक्षा से छोड़ दिया था। छोटी समझी जाने वाली जातियों, आदिवासियों ने नई मनुष्यता की ओर कदम बढ़ाया। यह भारतीय सिद्धान्तकारों और आचारशास्त्रियों के सामने कड़ी चेतावनी थी। एक नये किस्म का सांस्कृतिक अन्तर्विरोध था। जिससे वैष्णवी-चेतना में गतिरोध आ गया। यहीं से सभी जातिवर्गों में सुरक्षा-चिन्ता पैदा होने लगी दूसरी ओर भौतिक-उपलब्धियों में रुचि बढ़ने लगी। नये-अर्थशास्त्र और नई-राजनीति से परिचय होने लगा।

जिस मात्रा में भौतिकवाद और विज्ञान ने भारतीय संस्कृति के सदनों में प्रवेश किया उसी अनुपात में नतीजा भी मिलने लगा। सामंती-धार्मिकता की जगह पूँजीवादी जिज्ञासा की ओर कदम उठने लगे, अब अतीत को भविष्य के लिए उपयोगी सिद्ध करने की विवेकशीलता पैदा होने लगी। राष्ट्र और राष्ट्रीयता की धारणा एक जीवित आकृति के रूप में सामने आने लगी। और आंदोलन के युग का— राष्ट्रीय आंदोलन के युग का आरम्भ होने लगा। ध्यान देने की बात है कि भौतिकवाद और अर्थशास्त्र के साथ सामयिक राजनीतिक प्रभाव से जो द्वन्द्वात्मक मनःचेतना बनी उसकी अभिव्यक्ति खड़ी बोली में होती है। खड़ी-बोली भारत के मन की द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्ति का नया माध्यम थी। उसकी चेतना में शेष आंचलिक बोलियाँ या तो विलीन होने लगीं या उसमें समाहित होने लगीं। सामंतवाद, वैष्णवधर्म और अवधी, ब्रजी आदि के यश-प्राप्त करने की परिस्थितियाँ बदल गयी थीं। अब सामने था आधुनिक-युग भौतिकवादी

विज्ञान तथा नई-संस्कृति और उसको व्यक्त करने वाली खड़ी-बोली। खड़ी-बोली का जन्म मध्ययुगीन-भाववाद की प्रतिक्रिया और आधुनिक भौतिकवाद की चेतना की द्वन्द्वात्मक सक्रियता से होता है। खड़ी-बोली की बनावट में किसी जाति या सम्प्रदाय की गुण सम्पदा नहीं है उसमें औद्योगिक श्रम की जीवन-चेतना व्याप्त है। जैसे-जैसे औद्योगिक विकास होता गया, श्रम सम्बन्ध जटिल होते गये वैसे-वैसे खड़ी-बोली में नई बोधव्यता समाती गयी। जो लोग खड़ी बोली को जातीय आधारों से देखते हैं, वे केवल भ्रम पैदा करते हैं। खड़ी-बोली का जन्म तो भौतिक विवेक के प्रस्फुटन से होता है, वह संघर्ष धर्मी चेतना की भाषा है, उसकी प्रकृति क्रान्तिकारी है, वह जनगण की भाषा है। उसे अभिजात्य में, व्याकरण में बाँधा नहीं जा सकता। आज खड़ी बोली की संस्कृति जिस स्तर तक पहुँच चुकी है उससे क्या स्पष्ट नहीं होता कि भारत में उद्योग, विज्ञान, तकनालाजी के संस्कार अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुके हैं। खड़ी-बोली की संस्कृति में सम्प्रदाय-विहीन है, (जो श्रमिक की होती है) इस भाषा के साथ वर्गगत या जातिगत षडंयत्र नहीं किया जा सकता। कहने का तात्पर्य है कि पूँजीवादी आधुनिकता-बोध की विकृतियों को इसके रक्त में, प्राण में उतारा नहीं जा सकता। व्यक्तिवादी चेतना की अमूर्तताबोधक शैलियों का भविष्य इस भाषा में सुरक्षित नहीं है—अरचनात्मक जड़ता तो यहाँ है ही नहीं—यह जनभाषा है।

इस तथ्य की खोजबीन होनी चाहिये किन परिस्थितियों में अंग्रेज शोषकों ने भारतीय दर्शन, धर्म और संस्कृति की अनुशंसा की, उसे उपयोगी बताया। एक घटिया जाति के घटिया जीवन-दर्शन में उनकी रुचि क्यों बढ़ने लगी ? भारतीय संस्कृति में अंग्रेजी हस्तक्षेप के ठोस कारण थे। ऐसा करने से उनके राजनीतिक और आर्थिक हितों को लाभ हुआ।

संस्कृति में घुस-पैठ करके विदेशी शोषकों ने जनता की अखण्डता को चूर-चूर कर दिया, एक ऐसी रूपरेखा बनायी जिसमें उसकी चेतना टुकड़ों में विभक्त दिखाई देती है। अंग्रेजों ने भारतीय मानस की समग्रता का नहीं, बल्कि विपरीत गुणधर्म का मूल्यांकन किया। यदि अठारहवीं और उन्नीसवीं शती के योरोप को देखें तो स्पष्ट होगा कि वहाँ राष्ट्रीय संघर्ष और क्रान्तियाँ हो रही थीं। उद्योग, विज्ञान का सामाजिक सम्बन्धों पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ रहा था, उससे स्वतंत्रता और समानता की राजनीति पैदा हो रही थी। अब अर्थशास्त्र भी जनतांत्रिक हो रहा था। एडम स्मिथ और रिकार्डो के विचारों से 'पूंजी' और 'जनता' के अर्थतात्विक समाजशास्त्र का ज्ञान हुआ। ऐसे ही समय में कार्ल मार्क्स और एंगेल्स ने इतिहास और समाज को क्रान्तिकारी ढंग से बदलने का सन्देश दिया। उद्योग, विज्ञान तकनालाजी के सामाजिक, आर्थिक प्रभावों से प्रेरित मार्क्सवाद की पहल से इंग्लैण्ड फ्रान्स, जर्मन आदि की दुनिया में हलचल मच गई। अतः अपने-अपने उपनिवेशों की रक्षा के लिए आवश्यक था कि

वहाँ की जातीय धरोहर में हस्तक्षेप किया जाये। अब शोषण के साम्राज्यवाद को केवल राजनीति तक सीमित नही रखा गया बल्कि उसे सांस्कृतिक आधार दिया जाने लगा। इसी नीति के तहत अंग्रेजों ने भारतीय संस्कृति की तटस्थताबोधक दार्शनिक मुद्रा को तथा मध्ययुगीन रास-रस-लीला प्रधान वैष्णवी-भावुकता को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया। ऐसा करके अंग्रेज बहुत दूरी तक पश्चिमी क्रान्तियों के कारणों से भारतीयों को बेखबर रखने में सफल हो सके। और राष्ट्रीय राजनीति के उभार में धर्म, नीति के अहिंसावादी भ्रमों को अभिशंसित करते रहे। अठारह सौ सत्तावन के बाद अंग्रेजी कूटनीति के समाजशास्त्रीय प्रभावों को समझना जरूरी है।

भारत का इतिहास पुराना, संस्कृति पुरानी और अध्यात्म पुराना है। अत: इस पुरानेपन को इज्जत देकर, पुरानेपन की मिथक बनाकर ही भारत को छला जा सकता है, उसे वर्तमान से पीछे और बेखबर रखा जा सकता है। अवैज्ञानिक बने रहने की परिस्थितियों को भव्य, उदात्त और महान कहकर उसकी जड़ता तक पहुँची हुई भावुकता से लाभ उठाया जा सकता है। अंग्रेजों ने उस जातीय-स्मृति को जगाया जिसमें भौतिकता को 'माया' 'क्षणभंगुर' कहा गया और मोक्षवाद के प्रति चिन्ता प्रकट की गयी है। ऐसे ही हालातों में भारतीय पुनरुत्थानवाद का विकास होता है। अंग्रेज शोषण के वास्ते विज्ञान और तकनालाजी को भारत लाये थे। लेकिन भारतीय जीवन पर उसकी निर्वैयक्तिक गुण-चेतना का प्रभाव पड़ना लाजमी था और फिर योरोप की दुनिया से भी भारत के लोगों का परिचय हो रहा था। वहाँ की आजादी पसन्दगी का असर बढ़ रहा था। अंग्रेजी शिक्षा और प्रेस ने भारतीय समाज में फुरफुरी पैदा कर दी। अत: ऐसी परिस्थिति में अंग्रेजों के हित में था कि भारतीय चिन्ता अतीतजीवी बनी रहे।

इसीलिये, विज्ञान और राजनीति को दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र से जोड़ दिया गया। पढ़े-लिखे भारतीय को, राष्ट्रीय नेता को आसानी से पुनरुत्थानवादी, संशोधन-वादी, सुधारवादी बना दिया गया। इस तरह इतिहास और समाज को बदल देने वाली आवाज अमूर्त होकर, भ्रमपूर्ण होकर भारतीयों तक पहुँचने दी गई। अंग्रेज जानते थे कि खतरा पुनरुत्थानवाद से नहीं है, वे अठारह सौ सत्तावन की क्रान्ति से डरते थे, जिसकी शैली प्रत्यक्षत: राजनीतिक थी और यहीं से मार्क्सवाद का रास्ता खुलता था। भारतीय पुनरुत्थानवाद ने राष्ट्रीय राजनीति के ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को यथार्थवादी नहीं होने दिया, क्रान्तिकारी नहीं होने दिया—उन्हें वैज्ञानिक विश्लेषण और मूल्यांकन के लायक नहीं होने दिया। रिनासा सुधारकों से लेकर महात्मा गाँधी तक सभी ने उद्योग, विज्ञान, तकनलाजी के यथार्थवाद को, आधुनिक-बोध को स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप, टूटा-फूटा मृतप्राय सामंतवाद ही सम्प्रदाय विभक्त

सामाजिक सम्बन्धों में उपनिवेषवादी राजनीति के हितों को बचाता हुआ दिखाई देता है। इसी सन्दर्भ में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, थयोसाफ़िकल समाज, रामकृष्ण विवेकानन्द आदि का मूल्यांकन होना चाहिये। इसी सन्दर्भ में भारतीय अर्थशास्त्र को भी समझना चाहिये कि जिसमें "अदृश्य-हाथ" हमेशा सक्रिय रहा है और अर्थशास्त्र का मिथिकीकरण होता रहा है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में पूंजीवादी राजनीतिक-अर्थशास्त्र की पराजय तथा समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की विजय होती है और पूंजीवादी जीवन में विसंगतियां पैदा हो जाती हैं, वह पराजित व्यवस्था के रूप में शेष रह जाता है। उपनिवेषवाद का युग बीतने लगता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूंजीवादी योरोप में अस्तित्व-सङ्कट पैदा हो गया। आधा योरोप समाजवादी हो गया। अंग्रेज जानते थे भारत में जन-आन्दोलन तेज हो रहा है। अर्थशास्त्र पर आधारित जनवादी चेतना फैल रही है। अतः उन्होंने भारत को सावधानीपूर्वक हिन्दू पुनरुत्थानवादियों को सौंप दिया और एक नये इस्लामी राज्य पाकिस्तान को जन्म दिया।

आजादी के बाद पुनरुत्थानवादी प्रकृति के संविधान की रचना हुई तथा मिश्रित अर्थ-व्यवस्था लागू की गयी। इस मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में पश्चिमी-अर्थशास्त्र के प्रभुत्व की छाया बनी रही। भारत में पुनरुत्थानवादी गांधीवादी उदार राजनीति का चरित्र पूंजीनिवेश को बढ़ाने वाला रहा है। कौन नहीं जानता कि भारत की गरीबी, भुखमरी, बेकारी का कारण पुनरुत्थानवादी चरित्र की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था है जो पूरी तरह से असफल हो चुकी है, अब तो भारतीय पूंजीवाद ही विदेशी पूंजी के सहारे अपनी आर्थिक स्वाधीनता को खतरे पैदा कर रहा है। आज राष्ट्रीय-अर्थव्यवस्था भ्रष्ट हो चुकी है। हमारा रुपया पश्चिमी मुद्राओं का क्रीतदास हो गया है। रुपये की गुणात्मक चलनशीलता श्रम से नहीं बल्कि मुनाफे से जुड़ी है इसीलिए उसको नियन्त्रित करने वाली राजनीति भी धीरे-धीरे जनविरोधी होती जा रही है, आक्रामक होती जा रही है। अब पुनरुत्थान-वादी समाजशास्त्र तथा पूंजीवादी राजनीति में गहरे अन्तर्विरोधों के होते हुये भी काम-चलाऊ समझौता हो गया है।

देश में वर्ग-सङ्घर्ष की चेतना व्याप्त है, वह समझौतों और अध्यादेशों की स्थिति से आगे बढ़ चुकी है—अतः सङ्घर्ष को वर्ग-धारणा से हटाकर वर्गाबद्ध करने तथा उसे सर्वोदयी-समग्रता में देखने के प्रयास जारी है। पश्चिमी दुनिया की तरह भारत मे भी पूंजीवाद अपनी सुरक्षात्मक लड़ाई लड़ रहा है। उसके हालात दिन पर दिन नाजुक होते जा रहे हैं। आज के भारत में एक ओर है दमतोड़ता हुआ पुनरुत्थानवाद दूसरी ओर है विकृत, भ्रष्ट और अपराधबोध को बढ़ानेवाला पूंजीवादी आधुनिकतावाद तथा दोनों के विकल्प के रूप में है समाजवादी ——— । जो लोग को

वैज्ञानिक अर्थ में स्वीकार नहीं करते उनकी जन-धारणा यथार्थवादी नहीं है और वे व्यक्तिवाद के ही पोषक हैं।

मध्ययुगीन सामंतवाद से आधुनिक पुनरुत्थानवाद तक भारतीय जनता मे आत्मविलगाव और उदासीनता दिखाई देती है जिसका व्यावर्तन धर्म की विविध शैलियो मे होता रहा है। नीति और मर्यादा के परम्परावादी आचरण से जो गैर-राजनीतिक और गैर-आर्थिक दृष्टि बनी वह जीवन-निषेध की थी, उसमें मोक्ष और निर्वाण की व्यावर्तित चेतना थी, यही राष्ट्रीय जड़ता का कारण भी बनी। लेकिन पूँजीवाद ने भौतिकता के प्रति नई भावना दी। अब इतिहास उस मोड़ तक पहुँच गया है जहाँ से उसे पीछे नहीं घसीटा जा सकता। उसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। वह सामंतवाद और पुनरुत्थानवाद को छोड़ रहा है। अब मिथकीय भावादर्शों की वापसी नहीं हो सकती। अब संस्कृति में भौतिकवादी, विज्ञानवादी दृष्टियाँ प्रमुख हो गयी हैं।

भारत के महानगरों से लेकर ग्रामीण अंचलों तक पूँजीवादी-शोषण की संस्कृति का फैलाव हो चुका है और भ्रष्ट, विकृत आधुनिकताबोध जनता में गहराई से उतरता जा रहा है। आज राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद सुनियोजित ढङ्ग से इस आधुनिकताबोध का प्रचार और प्रसार कर रहा है ताकि समाजवादी-यथार्थवाद के वैज्ञानिक बोध से बचा जा सके। इस तरह पूँजीवादी आधुनिकताबोध के रूप में अपराध बोध पनपने लगा है। एक निहायत गरीब देश के अर्थशास्त्र का पूँजीवादी आधुनिकता बोध की विचार संस्कृति से जुड़ना उसकी असामयिक मौत का कारण बन सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य का मुआयना करें तो मालूम होगा कि पश्चिमी आधुनिकता बोध की आयातित शैलियां जबरन प्रयुक्त होती रही हैं। अवागार्द साहित्य को रचने के बनावटी प्रयास हुये हैं। अस्तित्ववादी-चिन्ता को आरोपित किया गया है। अस्थिरता, क्षणिक आवेग और भदेसपन की अभिव्यक्ति हुई है। स्नायविक उत्तेजनाओ से पूर्ण क्रान्तिकारी आवेग ही नवस्वच्छन्तावादी शैली में व्यक्त होते रहे हैं। कुल मिला कर साहित्य में अराजक और उन्मुक्त किस्म के व्यक्तिवाद के पोषण में सामाजिकता तथा इतिहास चेतना को तोड़ने वाली अराजनीतिक दृष्टि ही आधुनिकताबोध के रूप मे दिखाई देती है।

इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी क्रियायों से यदि संस्कृति में गति आती है, नवीनता आती है, वह उन्नतिशील होती है और व्यापक कोटि के मानवीय अनुशासन मे बँधती है और संस्कृति-बोध में स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय की कोई अहम् भूमिका बनती है संस्कृति का स्वास्थ्य वस्तुनिष्ठ और यथार्थवाही विवेक में फलित होता है

तो हमें अपने इतिहास को बदलने का श्रम करना चाहिये, समाजवाद को लक्ष्य में रखना चाहिये। अब विज्ञान के विरुद्ध होकर तथा राजनीति के विरुद्ध होकर ठोस संस्कृति-बोध को उपलब्ध नहीं किया जा सकता।

जिस तरह पुनरुत्थानवाद की तुलना में आधुनिकता बोध अधिक उपयोगी और आकर्षक लगता है उसी तरह समाजवादी यथार्थवाद की तुलना में वह उतना ही अशक्त और बीमार लगता है। इसी समाजवादी यथार्थवाद के रचनात्मक परिप्रेक्ष्य में हम अपनी अतार्किक परम्पराओं और अपार्थिव तत्वयोजनाओं से मुक्त हो सकेंगे, साथ ही सामाजिक मनुष्य की ठोस विश्वदृष्टि प्राप्त कर सकेंगे।

---